जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रज्ञापर्व प्रवचन माला-4

सदर्भ **योगक्षेमवर्ष**

सान्निध्य एव प्रेरणा
आचार्य श्री तुलसी

प्रवचनकार
युवाचार्य महाप्रज्ञ

मुख्य संपादक

मुनि दुलहराज

सपादक

मुनि धनंजय कुमार

संस्करण 1991

ISB No 81-7195-023-X

सौजन्य : स्व० श्री दीपचन्दजी नखत (टमकोर) की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री भीखम चन्द नखत द्वारा— ***जैनको बेयरिंग्स,*** *५८, महात्मा गांधी रोड, सिकन्दराबाद, (आ०प्र०)*

मूल्य · पच्चीस रुपये

प्रकाशक . जैन विश्व भारती, लाडनूं

मुद्रक . जे के ऑफसेट प्रिन्टर्स, नागलोई

Bhed Men Chhipa Abhed— Yuvacharya Mahaprajna
Price Rs 25 00

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर। प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान् लक्ष्य। लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन—प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग। प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण। अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा। समस्या एक ही थी—प्रशिक्षु व्यक्तियो के विभिन्न स्तर। एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क,ख,ग नही जानने वाले दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ रहस्यो के जिज्ञासु। दोनों प्रकार के श्रोताओ को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था। चिन्तन यही आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली में कैसी सामग्री परोसी जाए? नए तथ्यो को नई रोशनी मे देखने की जितनी प्रासगिकता होती है, परम्परित मूल्यो की नए परिवेश मे प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय देहली दीपक न्याय और डमरुक मणि न्याय के बारे मे पढ़ा था। दहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है। डमरु का एक ही मनका उसे दोनो ओर से बजा देता है। इसी प्रकार वक्तृत्व कला मे कुशल वाग्मी अपनी प्रवचनधाराओ से जनसाधारण और विद्वान्-दोनों को अभिष्णात कर सकते हैं, यदि उनमे पूरी ग्रहणशीलता हो।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है—प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल है और न जटिल है। जिसमे उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नही है और प्राथमिक ज्ञान का अभाव नही है। जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है। इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है। इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान मे रखकर

प्रज्ञापर्व समारोह समिति ने महाप्रज्ञ के प्रवचनो को जनार्पित करने का सकल्प सजीया। '**भेद में छिपा अभेद**' उसका चौथा पुष्प है, जो ठीक समय पर जनता के हाथो मे पहुच रहा है।

जिन लोगो ने प्रवचन सुने हैं और जिन्होने नही सुने हैं, उन सबको योगक्षेम यात्रा का यह पाथेय चिन्तन की एक नई दृष्टि देता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

३१ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती
लाडनू (राज)

आचार्य तुलसी

प्रस्तुति

सत्य को देखने की दृष्टि और परखने की कसौटी का नाम है अनेकान्त। अनेकान्त की घोषणा है — जितने वचन के पथ उतने नयवाद — सत्य को पकडने के दृष्टिकोण। प्रत्येक विचार एक नय है और वह है सापेक्ष। हमारी सत्याश को पकडने की प्रवृत्ति नही है। सत्याश को पूर्ण सत्य मानकर चलने की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गई है। इसलिए हम एक विचार को सत्य मानते हैं और दूसरे को असत्य। साप्रदायिक झगडो का यही मूल आधार है।

साप्रदायिक सद्भावना का स्वर्ण-सूत्र है अनेकान्त। अपने विचार के सत्याश को स्वीकार करो पर भिन्न विचार या दूसरे के विचार के सत्याश का खण्डन मत करो। भेद और अभेद — दोनो सापेक्ष हैं। उन दोनो को सापेक्षदृष्टि से देखो।

प्रस्तुत पुस्तक मे केवल अभेद अथवा समन्वय साधने का प्रयत्न नही है। इसमे भेद और अभेद — दोनो का यथार्थ दर्शन है। किसी भी सत्याश के प्रति अन्याय न हो, इसका सम्यक् प्रयत्न किया गया है।

आचार्य श्री तुलसी ने अनेकान्त की दृष्टि का स्वय प्रयोग किया है और मुझे भी वह दृष्टि दी है। मेरी धारणा मे इससे बडा कोई चक्षुदान नही हो सकता। मुनि दुलहराजजी प्रारभ से ही साहित्य सपादन के कार्य मे लगे हुए हैं। वे इस कार्य मे दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सपादन मे मुनि धनंजय कुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

१५ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती
लाडनू

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संपादकीय

• मबहु सयाने एक मत – इस स्वर मे एक सचाई है और वह है अभेद चेतना की स्वीकृति।

• जितने व्यक्ति हैं, उतने विचार हैं। जितने विचार हैं उतने मत हैं – इस ध्वनि मे भी सत्य की प्रतिध्वनि है, जिसका हार्द है– भेद चेतना की स्वीकृति।

• एकमत-अनेकमत, सम्मत-विमत, सम्मति-विमति– ये कुछ शब्द हैं, जो व्यक्ति की भेदात्मक और अभेदात्मक चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं।

• मतभेद को रोका नही जा सकता।

जहा व्यक्ति की स्वतत्रता है, विचार की स्वतत्रता है, वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता है वहा मतभेद का न होना आश्चर्य है, होना आश्चर्य नही है। इसीलिए अनेक धर्म-सप्रदाय हैं, अनेक ग्रथ और पथ हैं, अनेक प्रवर्तक और विचारक हैं।

• प्रश्न है–

क्या मतभेद और विचार भेद समस्या है?
विचार भेद समस्या को जन्म क्यो देता है?
क्या सघर्ष का कारण विचार भेद है?
क्या भेद में अभेद को खोजा नही जा सकता?

• हम विचार भेद को समझे किन्तु उसे समस्या न बनाए।

• जहा विचार भेद नही है वहा भी समस्या और सघर्ष हो सकते हैं।

जहा विचार भेद है वहा भी समस्या और सघर्ष से बचा जा सकता है।

• विचार भेद के साथ समस्या और सघर्ष का नियत अनुबध नही है।

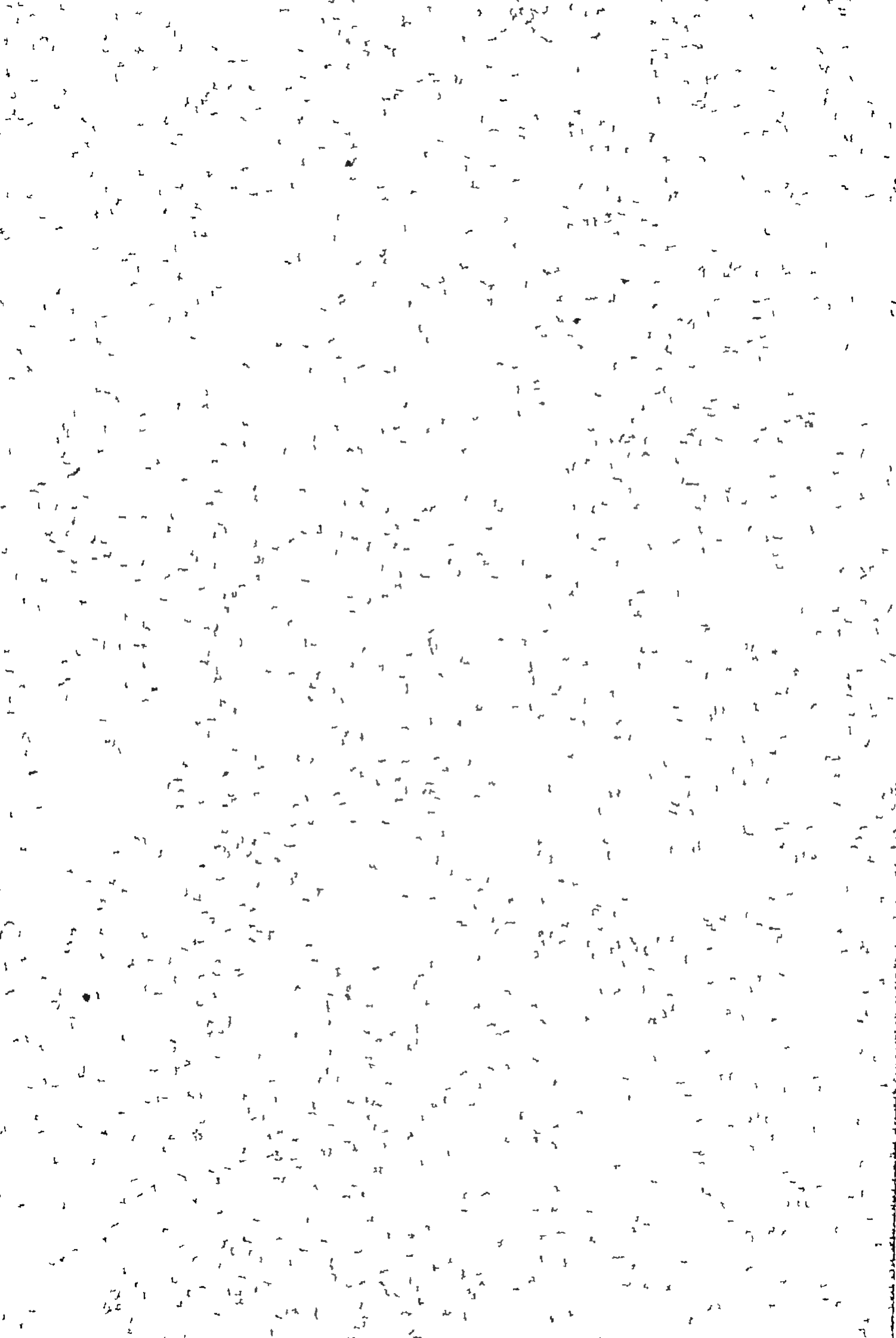
क्रम

विचार

दर्शन

ध्यान-योग

व्यक्तित्व



सचाई भी मान लेना चाहिए। यदि हम ऐसे युग का निर्माण कर सके, ऐसे वातावरण का निर्माण कर सके, जिसमे समाज इतना अनुशासित हो जाए कि दड-शक्ति की अपेक्षा समाप्त हो जाए। इस स्थिति मे ही हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज अनुशासित हो सकता है।

समस्या : कारण

समस्या यह है – भिन्न भिन्न विचार के लोग हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के मस्तिष्क हैं। मानव-मस्तिष्क का विश्लेषण करे तो मस्तिष्क की अनेक श्रेणिया प्रस्तुत हो जाती हैं। मस्तिष्क को सक्षेप मे पाच श्रेणियो मे वाटा जा सकता है–

१ अति-विकसित।
२ विकसित।
३ अल्प-विकसित।
४ अर्द्ध-विकसित।
५ अ-विकसित।

ऐसे लाखो आदमी हैं, जिनका मस्तिष्क सर्वथा अविकसित है। उनके लिए कोई शब्द काम नही करता, धर्म का उपदेश काम नही करता। वे कुछ भी सुनने के लिए तैयार नही होते। जो सुनते हैं, उसे समझ नही पाते। लाखो लोग अर्द्ध-विकसित दिमाग वाले हैं। अल्प-विकसित और विकसित दिमाग वालो की सख्या भी कम नही है। वहुत कम लोग ऐसे हैं, जिनका मस्तिष्क अति-विकसित है। अपनी मस्तिष्कीय क्षमताओ का अधिकतम उपयोग करने वाले व्यक्तियो की सख्या नगण्य ही है।

कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता

जिस समाज मे जीने वाले व्यक्ति विभिन्न श्रेणियो में वटे हुए हैं, उस समाज को हृदय-परिवर्तन या धर्म के द्वारा सचालित करने की कल्पना भी एक अतिकल्पना जैसी लगती है। प्रश्न है–धर्म के द्वारा समाज कव सचालित होता है? जहा अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया और अल्प लोभ हो, इस प्रकार अल्प कपाय की मानसिकता का निर्माण हो, वहा धर्म द्वारा समाज संचालित हो सकता है,

हृदय-परिवर्तन काम कर सकता है। आदिम युग मे एक समय ऐसा था, जब राज्य और राजनीति नही थी, किन्तु सब लोग स्वत अनुशासित थे। उस समय न कोई छीना-झपटी होती थी, न अपराध और चोरिया होती थी। इसका कारण यह था– उस समय आवश्यकताए अल्प थी और पदार्थ अनत। इस स्थिति मे हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज की व्यवस्था चल सकती है। जहा आवश्यकताए बढ जाए, आवश्यकता के स्रोत कम हो जाएं, पदार्थ की खपत ज्यादा हो जाए, उपभोक्ता बढ जाए, वहा हृदय-परिवर्तन द्वारा समाज को शासित किया जा सके, यह सभव नही लगता। जहा चोरी, छीना-झपटी आदि समस्याए उभरती रहती हैं, वहा कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता को नकारा नही जा सकता। इस स्थिति मे राजनीति और राज्य-व्यवस्था का विकल्प ही समाधान बनता है।

राजनीति : लक्ष्य की रेखाए

राज्य की स्थापना के साथ यह लक्ष्य जुडा रहता है– समाज मे सुख एव शांति रहे। समाज को सुख मिले, सुविधा के साधन उपलब्ध हो। समाज मे अपराध न हो, कलह और छीना-झपटी न हो। बडे लोग छोटो पर अन्याय न करे। राजनीति के सामने लक्ष्य की ये रेखाए रहती हैं और इन रेखाओ के आधार पर राजनीति के द्वारा राज्य की स्थापना होती है। इन लक्ष्यो के अनुरूप समाज निर्माण के प्रयत्न चलते हैं। यह स्पष्ट है–जहा राजनीति है वहा व्यक्ति का प्रश्न नही हो सकता, हृदय-परिवर्तन का प्रश्न नही हो सकता। राजनीति के सामने दूर तक जाने वाली नैतिकता का प्रश्न भी नही होता। राजनीति के साथ नैतिकता का प्रश्न उपयोगिता से जुडा हुआ है। उपयोगितापरक नैतिकता राजनीति के क्षेत्र मे अवश्य उपलब्ध हो सकती है। यदि हम वर्तमान राजनीति के साथ विशुद्ध नैतिकता का प्रश्न जोडना चाहे तो शायद वह सभव नही है।

राजनीति और नैतिकता

कुछ पाश्चात्य चिन्तको ने राजनीति का नैतिकता के साथ विचार किया है। कुछ भारतीय चिन्तको ने राजनीति का धर्म के साथ सबध

जोडने का प्रयत्न भी किया है। एक ओर राजनीति है तो दूसरी ओर धर्म एव नैतिकता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे विचार करे तो यह मानने मे कोई कठिनाई नही होगी कि राजनीति का नैतिकता और धर्म के साथ सापेक्ष सबध ही माना जा सकता है। उनमे कोई अनिवार्य सबध स्थापित नही किया जा सकता। जहा राजनीति है वहा धर्म की अनिवार्यता है, नैतिकता की अनिवार्यता है, ऐसा नही माना जा सकता और ऐसा हो भी नही सकता। इनमे सापेक्ष सबध ही हो सकता है। धर्म के सामने समाज जैसा कोई शब्द ही नही है। उसके सामने प्रश्न है व्यक्ति का। वास्तव मे व्यक्तिवाद धर्म की एक महत्त्वपूर्ण देन है। आज राजनीति के क्षेत्र मे भी व्यक्ति-स्वातत्र्य का मूल्य बढा है पर मूलत यह कोई राजनीति का प्रश्न नही है। यह धर्म का प्रभाव है। जहा व्यक्ति-स्वातत्र्य नही होगा वहा राज्य कैसे अच्छा चलेगा? जो राज्य व्यक्ति की स्वतत्रता का उपहरण करे, वह अच्छा हो नही सकता। जब से लोकतत्र चला है, लोकतत्र की राजनीति रही है, तब से उसमे जाने-अनजाने धर्म के कुछ सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए हैं।

स्वतंत्रता का प्रश्न

व्यक्ति की स्वतत्रता, वाणी की स्वतत्रता, लेखन की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतत्रता—ये सारे सिद्धान्त धर्म के प्रभाव से स्वीकृत हुए हैं। स्वतत्रता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वतत्रता देना राजनीति का कार्य नही है। राजनीति का कार्य है स्वतत्रता को सीमित करना। समाज की व्यवस्था के लिए स्वतत्रता को सीमित करना अनिवार्य बन जाता है। यह राजनीति की भाषा नही है—व्यक्ति की जो इच्छा हो, वह करे और जो इच्छा नही है, उसे न करे। व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न राजनीति मे मुख्य नही है। धर्म के क्षेत्र मे कहा जाता है—व्यक्ति की इच्छा हो तो त्याग या व्रत ले। उसकी इच्छा न हो तो त्याग की बात को अस्वीकार कर दे। यह इच्छा का स्वातत्र्य धर्म की भाषा मे स्पष्ट है लेकिन राजनीति की भाषा मे इसका कोई मूल्य नही है।

धर्म और राजनीति : मूल सूत्र

धर्म का मूल सिद्धान्त है – स्वतत्रता और राजनीति का मूल सूत्र है– दण्ड का शासन। किन्तु धर्मविहीन कोई भी राजनीति अच्छी नही हो सकती। हमे धर्म और राजनीति मे सापेक्ष सबध स्वीकार करना होगा। राजनीति मे स्वतत्रता के सिद्धान्तों की जो स्थापना हुई है, उनका जो विकास हुआ है, उसमें धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वर्तमान स्थिति यह है–जो राज्य अपने नागरिको को स्वतत्रता नही देता, वह एक अलग खेमे मे माना जाता है, पूरी दुनिया से अलग-थलग पड जाता है। हम अधिनायकवादी युग को देखे। वह कितना विचित्र युग था। उस शासन मे इतनी क्रूरता थी कि लाखो आदमियो को भून डालना एक सामान्य बात थी। उस युग की कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाता है। आज अधिनायकवाद मे जकडे देशो की स्थितिया बदल रही हैं। उस लोहावरण से छनकर जो आ रहा है, वह सबको आश्चर्य में डाल रहा है। जनता ने यह अनुभव कर लिया है–स्वतत्रता के बिना जो जीवन जिया, क्रूर शासको के जो अत्याचार सहे, वे जीवन के काले दिन थे। आज वे ग्लासनोस्त और पेरोस्रोइका की दिशा मे आगे बढ़ रहे हैं।

राजनीति पर प्रभाव

यह एक तथ्य है–धर्म का राजनीति पर प्रभाव रहता है। धर्म के मूल सिद्धान्तो को छोडकर जो राजनीति चलेगी, वह ज्यादा टिक नही पाएगी। जैसे मोक्ष के लिए धर्म एक परम सिद्धान्त है वैसे ही समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति एक परम सिद्धान्त है। बहुत सारे लोग राजनीति को बदनाम करते हैं। अनेक व्यक्ति आलोचना की भाषा में कहते हैं–आजकल सब जगह राजनीति चलती है। राजनीति का चलना कोई बुरी बात नही है। जीवन के लिए भोजन जितना अनिवार्य है, समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति उतनी ही अनिवार्य है। राजनीति द्वारा सचालित राज्य अच्छा होता है, राजनीति अच्छी होती है, तब भोजन, पानी, मकान आदि प्राथमिक व्यवस्थाए उपलब्ध होती हैं। यदि राजनीति अच्छी नही है, राजनीति का दर्शन अच्छा नही है तो

राज्य की व्यवस्था भी अच्छी नही होगी। राज्य की व्यवस्था अच्छी नही होगी तो समाज-व्यवस्था अच्छी नही होगी, जीवन की प्राथमिक आवश्यकताए सब लोगो को समान रूप से उपलब्ध नही हो पाएगी। समाज मे अव्यवस्था फैलेगी, आपाधापी चलेगी, समृद्ध लोग कमजोर लोगो को निगलते रहेगे।

सापेक्ष है प्रभाव

हम इस सचाई को समझे—राजनीति समाज की व्यवस्था का एक पवित्र सिद्धान्त है। उसमे धर्म का सापेक्ष प्रभाव है। धर्म के प्रभाव से निरपेक्ष होकर कोई भी राजनीति अच्छी नही चल सकती, हालांकि राजनीति के कुछ अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और वहा धर्म की बात मान्य नही हो सकती। यदि राजनीति मे सर्वत्र धर्म का सिद्धान्त व्याप्त हो तो धर्म और राजनीति को दो मानने की जरूरत ही नही होगी। जहा धर्म और राजनीति को एक बना दिया जाता है, वहा न धर्म रहता है और न राजनीति। धर्म का लक्ष्य है आत्मा को पाना। जो लोग ईश्वर मे विश्वास करते हैं, उनकी भाषा मे ईश्वर को पाना ईश्वरीय सदेशो को स्वीकार करना है। वीतराग के मार्ग पर चलना धर्म का परम कर्तव्य है। इसमे समाज-व्यवस्था आडे नही आएगी। जहा कही भी केवल धर्म के आदेशो पर समाज को चलाया जा रहा है वहा धर्म और समाज-व्यवस्था मे तालमेल नही हो पाया है। वर्तमान युग की धारणाए बदल गई हैं। समस्याए जटिल बन गई हैं। इस स्थिति मे धर्म के डेढ हजार वर्ष पुराने अनेक आदेश अप्रासंगिक हो गए हैं। वे आज की सामयिक समस्याओ के सदर्भ मे संगत नही लग रहे हैं। आजकल परिवार-नियोजन पर बल दिया जा रहा है। बढती आबादी की समस्या, खाद्य की समस्या आदि को देखते हुए परिवार-नियोजन को महत्त्व मिल रहा है। धर्म मे परिवार-नियोजन मान्य नही है। यह एक बडा द्वन्द्व है और इसका कारण है—दो हजार वर्ष पहले जो सामयिक व्यवस्थाए दी गई थी, वे आज उपयोगी नही रही हैं।

शाश्वत और सामयिक मूल्य

कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं और कुछ सामयिक। इस संदर्भ मे

आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन दिया, वह धर्म और राजनीति के सबध के परिप्रेक्ष्य मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सामयिक नियम और व्यवस्था को सामयिक मूल्य देना चाहिए। शाश्वत नियम और व्यवस्था को शाश्वत मूल्य देना चाहिए। धर्म सामयिक नियम या व्यवस्था नही है। वह जीवन का शाश्वत मूल्य है। "अहिसा धर्म है"— यह शाश्वत सचाई है। इसका अतीत मे भी मूल्य रहा है। यह वर्तमान मे भी मूल्यवान है और भविष्य मे भी इसका मूल्य बना रहेगा। धर्म का काम है शाश्वत मूल्यो का जीवन मे अवतरण करना। राजनीति मे कभी कोई शाश्वत मूल्य नही होता। हम राजनीति और धर्म के नियमो को मिलाए नही, किन्तु जिसका जितना मूल्य है उसे उतना मूल्य दे। यह अपेक्षित अवश्य है— राजनीति के नियमो पर धर्म के नियमो का प्रभाव रहना चाहिए। धर्म और राजनीति के इस सापेक्ष सबध का हम समुचित मूल्याकन करे तो वर्तमान की बहुत सारी समस्याओ का समाधान मिल सकता है। केवल हिन्दुस्तान मे ही नही, अनेक देशो मे समस्याए उलझती जा रही हैं। शाश्वत और सामयिक मूल्यो की सही समझ उनके समाधान का एक ज्योतिदीप बन सकती है और उससे समाज को एक नया प्रकाश मिल सकता है।

उत्तराध्ययन और धम्मपद

एक बार कुए की मुडेर पर एक राजहस आ बैठा। कुए के अदर एक मेढक क्रीड़ा कर रहा था। उसने देखा—एक अजनबी पक्षी कुए की मुंडेर पर बैठा है। मेंढक राजहस को देखकर बोल उठा—

रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशाल
किं मद्धाम्नोपि बाढ न हि न हि महत् पाप मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थ कूपोदरस्थ. सपदि तटगतो दर्दुरो राजहस,
नीच स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषया नापरे येन दृष्टा ।।

कूपमण्डूकता

मेढक ने राजहस से पूछा—तुम कौन हो? कहां से आए हो?
मैं राजहस हू, मानसरोवर से आया हू।
तुम्हारा मानसरोवर कितना विशाल है?
बहुत विशाल है हमारा मानसरोवर।
मेढक ने एक छलाग लगाई, पूछा—क्या इतना बडा है?
नही, इससे बहुत बडा है।
मेढक ने एक लम्बी छलाग लगाई, क्या इतना बडा है?
नही, इससे भी बहुत बडा है।
मेढक ने पूरे कुए की परिक्रमा की, क्या इतना बडा है?
नही, इससे भी बडा है।

मेढक ने कहा—तुम झूठ बोलते हो? तुम्हारी बात मिथ्या है। मेरे घर से बडा तुम्हारा मानसरोवर हो नही सकता।

राजहस ने सोचा—अब यहा ठहरना अच्छा नही है। जिसने कुए को ही देखा है, बाहर की जो विशाल दुनिया है, उसका जिसे पता नही है, वह अपने घर को ही बडा मानेगा। उसके लिए दुनिया मे उससे बडा कोई घर नही है।

कवि कहता है—जो नीच व्यक्ति होता है, वह थोडे मे ही अहकार से भर जाता है।

सीमा से परे

जिसने दुनिया को नही देखा है, उसे अपना घर ही सबसे बडा लगता है। यह कूपमण्डूकता की बात सारे ससार मे चलती है। धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता नही है। बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो कुए से बाहर कभी जाते ही नही हैं। वे यह नही मानते —हमारे से बडा भी कोई हो सकता है, किन्तु कुछ आध्यात्मिक व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होने सचाई को आकाश की भांति अनन्त रूप मे स्वीकार किया है। 'विशाल ज्ञानराशि को किसी सीमा मे नही बाधा जा सकता'—यह सचाई जिस व्यक्ति के सामने स्पष्ट होती है, वह सीमा से परे की बात भी सोचता है।

दो परम्पराएं · दो ग्रंथ

हम इस सचाई के सदर्भ में दो परपराओं का विश्लेषण करे। एक है बुद्ध की परम्परा, दूसरी है महावीर की परपरा। बुद्ध की परपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—धम्मपद और महावीर की परपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—उत्तराध्ययन। हम इन दोनो ग्रन्थो को पढ़े तो ऐसा लगेगा—उत्तराध्ययन के रचयिता ने धम्मपद से लिया है या धम्मपद के रचयिता ने उत्तराध्ययन से लिया है। दोनो ग्रन्थो को देखने पर बडी असमजस की स्थिति सामने आती है। दोनो ग्रन्थो मे तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री भरी पडी है।

आचार्यश्री ने सवत् २०२० का चातुर्मास लाडनू मे किया। उस समय 'उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन'—ग्रन्थ लिखा जा रहा था। लेखन के सदर्भ मे एक प्रस्ताव आया—उत्तराध्ययन, धम्मपद और महाभारत—तीनो का तुलनात्मक अध्ययन एक निबध मे प्रस्तुत किया जाए किन्तु जब तीनो ग्रन्थो का पारायण किया गया तो धारणा बदल गई। हम लिखना चाहते थे एक अध्याय और लिखा जा सकता था एक वृहद् ग्रन्थ। इतनी समान बाते, समान पद, समान वाक्य और समान अर्थ। तुलना करे तो एक पूरा ग्रन्थ ही बन जाए।

अलगाव कहां है?

सब धर्म समान हैं, यह स्वर निरतर सुना जाता है। जब आचार्यवर ने ब्अणुव्रत की अचार-सहिता प्रस्तुत की तब सनातन धर्म के लोगों ने कहा – यह तो हमारी आचार-सँहिता है। ईसाई धर्म के अनुयायियो ने कहा – यह हमारी आचार-सँहिता है और मुस्लिम भाइयो ने कहा—यह हमारी आचार-सँहिता है। सब धर्मो के लोगो ने इस आचार-सँहिता को अपनाया, स्वीकार किया औंर इस दृष्टि से स्वीकार किया कि यह हमारी ही आचार-सँहिता है।

प्रश्न होता है—जब अहिसा, सत्य आदि का प्रत्येक धर्म मे समान मूल्य है तो इतने धर्म क्यो? जब सब धर्म इन बातो को समान रूप से स्वीकार करते हैं तो धर्मो मे अलगाव की बात क्यों? सब धर्म एक क्यो नही हो जाते? जब तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है—अलगाव कहा है? यह प्रश्न नही होता—समानता कहा है? किन्तु यह प्रश्न सामने आता है—भेद कहा है? प्रश्न भेद का है, समानता का नही। अहिसा आदि तत्त्व समानं हैं, यह आश्चर्य की बात नही है। आश्चर्य की बात है भेद का होना। जो मनीषी व्यक्ति हैं, वे भेद् को खोजें, आश्चर्य को खोजें।

अहिसादीनि तत्त्वानि, समानानि न विस्मय ।
विशेषो विस्मयस्थान, सोऽन्वेष्टव्यो मनीषिणा।।

प्रश्न है पहुंच का

एक विद्वान् व्यक्ति का काम क्या है? वस्तुत तुलना करना, समानता खोजना वहुत महत्त्व का काम नही है। समानता के तत्त्व बहुत हैं, उन्हें आसानी से खोजा जा सकता है कितु भेद को खोजना वहुत महत्त्व की वात है। एक मनीषी व्यक्ति के लिए करणीय है—भेद की खोज। यह वात, असगत लग सकती है, कितु है वहुत महत्त्वपूर्ण। अभेद को खोजना कोई नई वात नही है, कोई विशेष बात नही है। जहा सत्य की खोज होगी, वहा अभेद तो होगा ही। पर खोजना है भेद को। यह भेद या विशेष ही आश्चर्य का कारण है। मनीषी व्यक्ति यह खोजे—कौन व्यक्ति कहां तक पहुंचा है? महावीर सत्य की खोज मे कहा तक पहुंचे? वुद्ध सत्य की खोज में कहा

तक पहुचे? ईसा और मोहम्मद साहिब कहा तक पहुचे? गाधी और मार्क्स कहा तक पहुचे? आचार्य भिक्षु कहा तक पहुचे? प्रश्न है पहुंच का। हिमालय की यात्राए बहुत लोग करते हैं। हिमालय हिमालय है। यह खोज नही होती कि हिमालय की खोज कितने लोगो ने की, कितु खोज का प्रश्न होता है—हिमालय की एवरेस्ट चोटी पर कितने लोग पहुचे? कितने लोग उससे नीचे की चोटी तक ही पहुच पाए? हम यह खोज करेगे तो सारा दृष्टिकोण बदल जायेगा।

कथा के चार प्रकार

जैन आगमो मे चार प्रकार की कथाओ का उल्लेख मिलता है—

- आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा।
- विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा।
- सवेजनी—जीवन की नश्वरता, दु ख-बहुलता तथा शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा।
- निर्वेदनी—कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखलाकर ससार के प्रति उदासीन करने वाली कथा।

विक्षेपणी कथा

दूसरी कथा है विक्षेपणी कथा। इसके भी चार प्रकार हैं—

- एक सम्यक् दृष्टि व्यक्ति अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर फिर दूसरो के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।
- दूसरो के सिद्धात का प्रतिपादन कर फिर अपने सिद्धात की प्रस्थापना करता है।
- सम्यक्वाद का प्रतिपादन कर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करता है।
- मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर फिर सम्यक्वाद की प्रस्थापना करता है।

विक्षेपिणी कथा करने वाला अपने सिद्धात का प्रतिपादन भी करता है, दूसरो के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करता है। इसका अर्थ है—तुलनात्मक अध्ययन। तुलनात्मक अध्ययन की परपरा नई विकसित हुई है, किन्तु हमारे लिए यह नई नही है। आचार्य का एक विशेषण आता है—ससमय-परसमयविउ। इसका अर्थ है—आचार्य को स्वसमय—अपने

देखा जा सकता है। आजकल ऐसी विधिया भी आविष्कृत हो रही हैं।

एक व्यक्ति आज जिस स्थान पर बैठा है, दस दिन बान उसी स्थान पर उस व्यक्ति का फोटो लिया जा सकता है। व्यक्ति के शरीर से निरन्तर तदनुरूप आकृति का विकिरण होता रहता है और उस आकृति का फोटो लिया जा सकता है। आकाशवाणी के अधिकारियो का एक प्रश्न था—हिन्दू धर्म और जैन धर्म मे भेद क्या है? यह भेद की खोज विशिष्टता की खोज है। केवल समानता की बात करने वाला किसी भी धर्म की विशिष्टता का बोध कैसे कर पाएगा? विशिष्टता का बोध वही कर सकता है, जो भेद को खोजता है।

अन्तर है मूल प्रकृति का

हमारे सामने प्रश्न है—उत्तराध्ययन और धम्मपद मे समानता बहुत है किन्तु असमानता क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमे जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन की मूल प्रकृति को समझना होगा। धम्मपद का एक श्लोक है—

पच छिंदे, पच जहे, पच उत्तरीभावए।

पाच का छेदन करो, पाच का त्याग करो और पाच की भावना करो।

यह एक पहेली है—पाच का छेदन, पाच का त्याग और पाच की भावना। इनमे कुछ बाते समान हैं। पाच का त्याग करो, यह महत्त्व की बात है। त्याग-योग्य पहली बात है— आत्मा नित्य है, इस बात का त्याग करो। इस विन्दु पर हम उत्तराध्ययन और धम्मपद के प्रकृति-भेद को समझ सकते हैं। बुद्ध कहते हैं—आत्मा नित्य है, यह मानना एक भ्रान्ति है। जब तक यह भ्रान्ति नही मिटेगी तब तक सम्यग् दर्शन नही होगा, निर्वाण का तो प्रश्न ही नही है। महावीर कहते हैं—आत्मा नित्य भी है। यदि हम आत्मा को केवल अनित्य मानेगे तो कही टिक नही पाएगे। यह मत कहो—आत्मा अनित्य है और यह भी मत कहो—आत्मा नित्य है किंतु तुम यह कहो—आत्मा नित्य भी है और आत्मा अनित्य भी है।

चिन्तन की दो धाराएं

दर्शन के क्षेत्र मे चिन्तन की दो धाराए रही हैं— कूटस्थनित्यवाद और

परिवर्तनवाद या परिणामवाद। कूटस्थनित्यवादी कहते हैं—जो जैसा है, वह वैसा ही रहता है। कभी कुछ बदलता ही नही है। आत्मा अचल है, नित्य है, उसमे कोई परिवर्तन नही आता। क्षणिकवादी, जो परिवर्तन को ही मान्य करते हैं, उनका कहना है—आत्मा शाश्वत नही है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। दिए की लौ जल रही है। पूछा जाए—पहले क्षण मे जो लौ जल रही थी, क्या वही लौ दूसरे क्षण मे जल रही है? क्षणिकवादी का उत्तर होगा—वह लौ नही है, जो जल रही थी, वह चली गई। अब जो जल रही है, वह नई लौ है। दीप जलता रहेगा, लौ जलती रहेगी, लेकिन कोई भी लौ एक नही होगी। वह प्रतिक्षण नई होगी। बुद्ध कहते हैं—जैसे दिए की लौ प्रतिक्षण बदलती रहती है वैसे ही आत्मा भी प्रतिक्षण बदलती रहती है।

त्रिपदी का सिद्धान्त

महान् दार्शनिक हेरेक्लाइटस ने कहा – नदी के एक पानी पर दो बार पैर नही रखा जा सकता। जिस पानी पर अभी पैर रखा है, उसी पानी पर दुबारा पैर नही रखा जा सकता, क्योंकि पहले वाला पानी बह चुका होता है और अब का पानी नया है। एक है प्रवाह की धारा और एक है स्थिर धारा। प्रवाह की धारा वह है, जो टिकाऊ नही है, स्थिर नही है। महावीर ने जो स्थाई है, उसको भी स्वीकार नही किया, जो अस्थाई है, उसको भी स्वीकार नही किया। महावीर ने स्वीकृति दी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रिपदी को। उन्होने कहा—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, वही द्रव्य है। कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जिसमे ध्रौव्य है, किन्तु उत्पाद और व्यय नही है। कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जिसमे उत्पाद और व्यय है, किंतु ध्रौव्य नही है। जो इस त्रिपदी को नही जानता, वह जैन धर्म के मर्म को नही जानता। ध्रौव्य है तो साथ मे उत्पाद और विनाश भी है। परिवर्तन के बीच एक ऐसा तत्व है, जो सदा स्थिर रहता है। यही है ध्रौव्य।

हम लाडनू शहर का सदर्भ ले। लाडनू कब से है? कितना प्राचीन है? यदि प्राचीन जैन मंदिर और सरस्वती की प्रतिमा को देखे तो लाडनू हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है। क्या आज लाडनू वही है, जो हजार वर्ष पहले

जिसने कमल का फूल तोडा, चोरी की, उसे कुछ नही कहा। मैंने फूल तोडा ही नही, केवल सुगंध ले रहा हू, फिर भी तुम मुझे चोर ठहरा रहे हो?

तालाब का मालिक किसान था। उसने बहुत मर्म की बात कही— महाराज! वह गृहस्थ था, सन्यासी नही। उसने भी चोरी की है। पर आप सुगंध किसकी आज्ञा से ले रहे थे? कमल की आज्ञा ली? मेरी आज्ञा ली?

नहीं।

क्या बिना आज्ञा किसी अन्य वस्तु का उपयोग करना चोरी नही है?

फिर आप कैसे कह सकते हैं मैंने चोरी नही की?

सन्यासी को अपनी भूल का अहसास हो गया

असमानता की खोज : मौलिकता की खोज

महावीर की यह मौलिक स्थापना है—'पानी मे जीव है'—जीव को मारना हिंसा ही नही, चोरी भी है। आज हमें यह खोजना है—अध्यात्म के किस आचार्य ने क्या मौलिक अवदान दिया? क्या नई स्थापना की? हम लोग समानता की बात तक अटक जाते हैं। यह एक बहुत बडा भ्रम हो गया— सब साधु समान हैं, सब सप्रदाय समान हैं, सब धर्म समान हैं। इस केवल समानता-समानता की रट में मौलिकता उपेक्षित हो गई। कुछ बाते समान होती हैं तो कुछ बाते ऐसी भी होती हैं, जो धर्म-दर्शन् की विशिष्टता को रेखांकित करती हैं। हम अपनी धारणा को स्पष्ट करे—समानता को खोजे तो साथ-साथ असमानता को भी साफ-साफ समझे। जब असमानता की बात समझ मे आएगी, मर्म-बिन्दु समझ मे आ जाएगा।

हम धम्मपद को पढ़े, उत्तराध्ययन को पढ़ें, कुरान, बाइबिल और पिटको को पढ़ें, इन सबको आदर के साथ पढ़े। इसमे कोई कठिनाई नही है। जैनधर्म ने उदारता के साथ यह स्वीकृति दी—स्व-समय को जानो, पर-समय को भी जानो। यह नही कहा गया—दूसरों की पुस्तकें मत पढ़ो, उन्हे नष्ट कर दो। सवत् २००५ की बात है। आचार्यवर ने कहा—समाजवाद-साम्यवाद को जानना है। आज की मान्यताओ को हमें जान लेना चाहिए। दूसरो को आश्चर्य हुआ— आचार्यश्री ने यह आज्ञा कैसे

दे दी? साम्यवाद को पढ रहे हैं, कही नास्तिक न बन जाए, कम्युनिस्ट न बन जाए। मैंने समाजवाद और साम्यवाद का गहरा अध्ययन किया तब अनेक जैन विद्वानो ने तो यह भी कह भी दिया कि मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) साम्यवादी बन गए हैं, नास्तिक हो गए हैं, लेकिन ऐसा कुछ हुआ नही।

सत्य का विराट् दर्शन

हम समग्रदृष्टि से पढें। यह उदारता जैनधर्म मे सहज प्राप्त है। हम इस उदारता के साथ-साथ यह बात भी समझें—सम्यक्वाद का कथन कर, मिथ्यावाद का कथन करे और मिथ्यावाद का कथन कर सम्यक्वाद की स्थापना करे। यह तुलनात्मक अध्ययन का नया दर्शन है। जो लोग तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हे विक्षेपणी कथा का सूत्र जरूर पढ लेना चाहिए। आज तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन परपरा मे काफी कुछ लिखा गया है, पर तुलनात्मक अध्ययन का एक समग्र दर्शन, जो इस सूत्र मे उपलब्ध है, वह बहुत महत्त्व का है। इस दर्शन के साथ हम उत्तराध्ययन, धम्मपद या किसी भी ग्रन्थ को पढ़े तो सत्य का विराट् दर्शन होगा। जैसे योगीराज कृष्ण ने अर्जुन को अपने मुह मे विराट् का दर्शन कराया था वैसे ही इस सूत्र के सदर्भ मे हमे सत्य का विराट् दर्शन उपलब्ध हो सके तो तुलनात्मक अध्ययन और अन्वेषण की सार्थक परिणति का साक्षात् होगा।

उत्तराध्ययन और महाभारत

समाज या राष्ट्र के जीवन को समझने के लिए साहित्य बहुत बडा माध्यम है। व्यक्ति आता है, चला जाता है। वह अपने पीछे कुछ छोड जाता है। एक परपरा चलती है और वह समाप्त नही होती। परपरा मे जो मोड आते हैं, बदलाव आते हैं, वे साहित्य मे लिखे होते हैं। आज का प्रसिद्ध शब्द है पीढ़ियो का अतराल। एक पीढी के बाद दूसरी पीढ़ी बदल जाती है। बदलती तो वह पीढ़ी भी है किन्तु दूसरी पीढ़ी में निश्चित बदलाव आ जाता है। रहन-सहन, खान-पान, चिन्तन सब कुछ बदल जाता है। हम पचास वर्ष का राजस्थान का जीवन-क्रम देखे। खान-पान मे परिवर्तन आ गया है, रहन-सहन बदल गया है, मकान बनाने का क्रम बदल गया है। चिन्तन तो बदला ही है। पहले महिलाए पर्दे मे बैठती थी। आज पर्दे हट गए हैं। जोधपुर मे महिलाए दो पर्दो मे बैठती थी। आज वे दोनो हट गए हैं। इस बदलाव को जानने के लिए इतिहास और साहित्य बडे माध्यम होते हैं। अगर साहित्य न हो तो सारा अतीत अधकारमय बन जाए, कुछ भी ज्ञात न हो पाए।

साहित्य की उपयोगिता

साहित्य न होने का अर्थ है – अतीत का लोप। केवल वर्तमान बहुत दरिद्र होता है। वह समृद्ध तभी होता है जब उसका अतीत समृद्ध होता है। हजारो-हजारो वर्षो के अतराल में जो कुछ घटित हुआ, जो कुछ सोचा गया, अनुभव किया गया, वह मिल जाता है तो समाज समृद्ध बनता है। हिन्दुस्तान इस अर्थ मे बहुत समृद्ध है। उसके पास पांच हजार वर्ष का इतिहास या साहित्य उपलब्ध है। उससे पीछे का समाप्त हो गया, फिर भी पाच हजार वर्ष कम नही हैं। दुनिया मे एक-दो राष्ट्र ऐसे हैं जो इस दृष्टि से आगे हैं। इतिहास और साहित्य

का समृद्ध अतीत भारतीय जनता के लिए प्रेरणा का कार्य करता है।

रामायण और महाभारत

साहित्य की कई धाराए हैं। उस साहित्य की धारा मे दो महाकाव्य माने जाते हैं— रामायण और महाभारत। हम महाभारत की चर्चा करे। दिल्ली दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक ने महाभारत को एक नया जीवन प्रदान कर दिया है, एक नई स्मृति दिला दी है। आज जिसका नाम महाभारत है, पहले उसका नाम महाभारत नही था। उसका पहला नाम था 'जय'। श्लोक-सख्या भी बीस-तीस हजार से अधिक नही थी। शायद और भी कम रही होगी। उसका रूप बदला, प्रक्षेप होता चला गया, श्लोक बढ़ते चले गए। 'जय' नाम बदला और 'भारत' नाम से यह महाकाव्य जाना जाने लगा। जैन आगम नदी सूत्र और अनुयोगद्वार मे महाभारत का नाम मिलता है 'भारत'। बीस-इक्कीस हजार श्लोक वाले इस ग्रथ मे आज लाख से भी अधिक श्लोक माने जाते हैं। कितना प्रक्षेप हो गया। बहुत प्रक्षेप होता गया, ग्रन्थ परिमाण बढता चला गया। सचमुच 'भारत' महाभारत बन गया। आज रामायण और महाभारत—दो कहावते बन गई हैं। जहा कही थोडा बहुत झझट होता है तो लोग कहते हैं — क्यू रामाण करे। रामायण रामाण बन गई और झगडा महाभारत बन गया।

सकलन ग्रंथ

महाभारत सचमुच महाभारत है, एक विशाल ग्रथ है। जो कुछ अच्छा लगा, उसके साथ जोड़ दिया गया। पहले कहा जाता था—व्यास का है महाभारत। आज यह कितने लोगो का है, कहा नही जा सकता। दस-बीस या न जाने कितने लोगो ने उसे बढ़ाया और इतना विशाल आकार दे दिया। जिसको जो चीज अच्छी लगी, उसने इसके साथ उसे जोड दिया। ऐसा लगता है— हिन्दुस्तान में जितना विचार था, जितना चिन्तन था, जितनी धर्म की धारणाए थी, समाज की धारणाए थी, उन सबका समावेश कर दिया गया। इसीलिए महाभारत मे बहुत विरोधी बाते मिलती हैं। एक विचार से, एक लक्ष्य से जो लिखा जाता है,

उसमे विरोधी बाते नहीं होतीं। जहा सग्रह होता है, समावेश होता है वहा विरोधी बाते भी सकलित हो जाती हैं।

एक अतिशयोक्ति

महाभारत एक सकलन ग्रथ है। जो भी अच्छा लगा, इसमे जोड दिया गया। जैन दर्शन की जो बात अच्छी लगी, महाभारत के साथ जोड दी गई। बौद्ध दर्शन की जो बात अच्छी लगी, उसे भी जोड दिया गया। जितनी धाराए थी, उनको जोडकर एक सागर बना दिया गया। एक ऐसा समुद्र, जिसमें आकर सारी धाराएं मिल जाती हैं। इसीलिए शायद यह कहा गया — जो कुछ खोजना चाहो, महाभारत मे मिल जाएगा। जो इसमे नही है, वह कही भी नही है। हालांकि यह एक अतिशयोक्ति है। इसमे बहुत सारी बाते हैं, यह तो कहा जा सकता है लेकिन जो इसमे नही है, वह कही नही है, यह नही कहा जा सकता।

महाभारत : कुछ स्पष्ट तथ्य

महाभारत के सदर्भ में कुछ बाते बहुत स्पष्ट हैं। महाभारत कोई एक ग्रन्थ नही है, वह अनेक ग्रथों का सकलन है। वह किसी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रथ नही है, अनेक विचारधाराओ का समवाय है। किसी एक धागे से यह कपडा नही बुना गया है। अनेक रग के धागों से बुना हुआ है यह कपडा। इसमे नाना प्रकार के रग भरे गये हैं— लाल, पीला, नीला, काला, हरा, सफेद आदि। इसकी बुनावट भी एक तरह की नही है, अनेक प्रकार की है।

महाभारत और उत्तराध्ययन

हम महाभारत के सदर्भ में उत्तराध्ययन पर विचार करे। उत्तराध्ययन एक छोटा ग्रथ है। उसका श्लोक-परिमाण दो हजार माना जाता है। कहा सवा लाख पद्य-परिमाण और कहा दो हजार पद्य परिमाण। बहुत छोटा ग्रथ और वह भी एक विषय का ग्रथ। उत्तराध्ययन के रचनाकार का उल्लेख भी नही मिलता। यह एक- कर्तृक है या सकलन है, इसका निर्णय करना भी कठिन है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस सदर्भ मे कुछ खोजे की हैं और उनका निष्कर्ष है — उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन एक वार सकलित हुए हैं और शेष अठारह अध्ययन वाद मे

जोडे गए हैं। यह निर्णय रचना-शैली के आधार पर। छद और विषय-वस्तु के आधार पर सामने आया है। दो बार मे किया गया यह सकलन एक-कर्तृक है या बहुकर्तृक, यह प्रश्न आज भी अनिर्णीत है। एक अध्ययन ऋषिभाषित जैसा है। किसी प्रत्येक-बुद्ध मुनि ने एक अध्ययन रचा और वह इसमें सकलित हो गया। यह ग्रथ भी एक प्रकार का सकलन ग्रथ है। अलग-अलग अध्यायो का सकलन। इसमे छत्तीस अध्ययन हैं, जिनमे तत्त्वविद्या का निरूपण भी है, आचार-शास्त्र का प्रतिपादन भी है, कथा और दृष्टातो का सकलन भी है, जीवनवृत्त भी हैं और प्रश्नोत्तर भी हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टयी

महाभारत मे चार पुरुषार्थों का वर्णन है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष – ये चार पुरुषार्थ भारतीय जीवन की समग्रता माने गए हैं। समग्र जीवन उसका होता है, जिसमे अर्थ भी होता है, काम भी होता है, धर्म और मोक्ष भी होता है। यह समग्र जीवन की भारतीय कल्पना है। भारतीय चिन्तन के अनुसार इन चार पुरुषार्थों से परिपूर्ण जीवन ही जीवन माना जाता है। महाभारत मे इन चारो पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। उसमे काम को भी बहुत प्रधानता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रश्न हुआ – धर्म, अर्थ और काम – इन तीनो में प्रधान कौन है? महाभारतकार कहते हैं – काम प्रधान है, धर्म और अर्थ गौण हैं। यह बात उत्तराध्ययन में मान्य नही है। उत्तराध्ययन कोरा अध्यात्म-शास्त्र है। उसमे धर्म और मोक्ष – दो पुरुषार्थों का ही विवेचन है। महाभारत में पुरुषार्थ चतुष्टयी का वर्णन है इसलिए वहा काम को भी सबसे बडा श्रेय मान लिया गया।

संदर्भ : राजनीति

महाभारत मे राजनीति का विस्तृत वर्णन है। महाभारत कहता है – दण्ड न हो तो सारी प्रजा नष्ट हो जाए। दण्ड ही शासन कर रहा है। जहा दण्ड का प्रसग है, उत्तराध्ययन कहता है – मिथ्या दण्ड का प्रयोग हो रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दण्ड दे, एक विवेकशील आदमी दूसरे आदमी को दण्ड दे, यह न्याय नही है, मिथ्या

दण्ड है। उत्तराध्ययन का स्वर है – पत्थर फैंकने वाला व्यक्ति पहले अपने आपको देखे। यह अध्यात्म का स्वर है। अध्यात्म की भूमिका पर खडा होकर व्यक्ति वही बोलेगा, जो उत्तराध्ययन बोल रहा है। समाज की भूमिका पर, दडनीति और राजनीति की भूमिका पर खडा होकर व्यक्ति जो बात कहेगा, वह महाभारत मे मिल सकती है, उत्तराध्ययन मे नही।

भूमिका-भेद

हम इस भूमिका-भेद को समझे। जहा चार पुरुषार्थों की मान्यता है वहा दड का समर्थन भी मिलेगा, हिसा का समर्थन भी मिलेगा, काम और अर्थ का समर्थन भी मिलेगा, अहिसा और सत्य का समर्थन भी मिलेगा। महाभारत मे अहिसा का बहुत सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है। कहा गया – खेती करना भी हिसा है। यह बात जैन आगमो मे मिलेगी या महाभारत मे। महाभारत मे पूरा एक प्रकरण है, जिसमे यह बताया गया है कि खेती किस प्रकार से हिसा है। ऐसा लगता है – वह प्रकरण जैन विचारो के आधार पर लिखा गया है। अन्यथा इतनी सूक्ष्मता उसमे नही आती।

अध्यात्म की भूमिका पर

उत्तराध्ययन और महाभारत की प्रकृति को समझना आवश्यक है। हम अध्यात्म की भूमिका को पढ़े। उत्तराध्ययन मे महावीर गौतम को सबोधित करते हुए कहते हैं – गौतम! तुम याद करोगे, आने वाली पीढिया याद करेगी – आज तीर्थंकर नही हैं। धर्म के मार्गदर्शक बहुत हैं। हम किसकी बात को स्वीकार करे और किसकी बात को अस्वीकार करे। यह एक बडा प्रश्न होगा। यही स्वर महाभारत मे है – यदि एक शास्त्र होता तो श्रेय प्रकट हो जाता किन्तु आज शास्त्र एक नही है। कितने शास्त्र बन गए हैं। श्रेय को गुफा मे डाल दिया गया है। उसका पता ही नही चल पा रहा हे। तर्क भी प्रतिष्ठित नही है। धर्म का सारा तत्त्व उसमे छुप गया है। महाभारत मे युधिष्ठिर के सामने ये सारी बाते आ रही हैं और उसका एक पूरा प्रकरण है। यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है – शास्त्र एक नही है, बहुत हैं, इसलिए श्रेय तत्त्व छिप

गया है—

शास्त्र यदि भवेदेक, श्रेयो व्यक्त भवेत्तदा।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूय श्रेयो गुह्य प्रवेशितम्।।

अर्थ और काम की भूमिका पर

चिन्तन की धारा मे कितनी समानता है लेकिन यह अलग भूमिका की बात है। हम इस भूमिका-भेद को स्पष्ट जाने। जहा जहा महाभारत मे अध्यात्म का चिन्तन है वहा वहा उत्तराध्ययन और महाभारत को एक तराजू मे रखा जा सकता है। एक तराजू के दो पल्ले हैं। एक पल्ले मे महाभारत को रखें और दूसरे मे उत्तराध्ययन को। दोनो सम रहेगे। न कोई ऊँचा होगा और न कोई नीचा। अध्यात्म की भूमिका मे कोई अतर हो ही नही सकता। जहा अर्थ और काम का प्रश्न है वहा उत्तराध्ययन और महाभारत का चिन्तन दो विपरीत दिशाओ की भांति कही नही मिलता। अर्थ के सदर्भ मे महाभारत कहता है – अर्थ के विना आदमी को पूछता कौन है? निर्धन आदमी बडा निर्बल होता है। सबसे पहले धन का अर्जन करो। धन ही सब कुछ है। महाभारत मे धन को वहुत मूल्य दिया गया है। काम और दडनीति का भी प्रबल समर्थन किया है। उत्तराध्ययन मे इन सबको कोई स्थान नही है। उत्तराध्ययन और महाभारत की तुलना से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि जहा महाभारत पुरुपार्थ चतुष्टयी का वर्णन करने वाला ग्रथ है वहा उत्तराध्ययन केवल दो पुरुषार्थो – धर्म और मोक्ष का प्रतिपादक ग्रथ है।

विमर्शनीय प्रश्न

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है – जैन धर्म परिपूर्ण धर्म नही है और इसलिए नही है कि उसने काम और अर्थ के वारे मे अपनी नीति स्पष्ट नही की। एक साधु के लिए जैन धर्म परिपूर्ण धर्म है लेकिन एक गृहस्थ के लिए वह परिपूर्ण धर्म नही है। क्योंकि उसमे समाज का चिन्तन नही है। यह प्रश्न वहुत वार आता है। साहू शांतिप्रसादजी जैन ने अनेक वार कहा – महाराज! जब भी आप प्रवचन सुनाते हैं तब वार-वार यह कहते हैं – साधु ऐसा नही करता,

साधु को ऐसा नही करना चाहिए, साधु को ऐसा करना चाहिए। साधु कौन होता है? साधु का धर्म क्या है आदि आदि। पर आप हमे यह सब क्यो सुनाते हैं? क्या हम साधु हैं? साधु-धर्म हमारे लिए कितना उपयोगी है! आप हमें यह क्यो नहीं बताते कि हम क्या करे और क्या नही करे? गृहस्थ को क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए?

वस्तुत यह एक विमर्शनीय प्रश्न है।

साहू शान्तिप्रसादजी जैन कोरे उद्योगपति नही थे। वे बहुत श्रद्धालु थे, अध्ययनशील और मननशील व्यक्ति थे। वे कहते – "महाराज! कोरा धन मे जीना ही क्या जीना है? वस्तुत जीना वह है, जिससे व्यक्ति की धार्मिक आस्था को बल मिले।

धर्म कब करें?

धर्म के लिए कोई समय निश्चित नही है। आदमी सोचता है – जब बुढ़ापा आयेगा तब धर्म करूगा। जब वृद्धत्व आएगा तब व्यापार छोड दूगा, धर्मध्यान करूगा, सत् साहित्य पढूगा। महावीर ने कहा – जब तक बुढ़ापा न आए, जब तक शरीर में रोग न आए, इन्द्रिया हीन न हो तब तक धर्म करो। जब बुढ़ापा आ जाएगा, रोग से आक्रात हो जाओगे, इन्द्रिया क्षीण हो जाएगी, तब कुछ नही होगा –

जरा जाव न पीलेई वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

आचाराग चूर्णि तथा अनेक व्याख्या ग्रथो मे यह कहा गया है – चालीस वर्ष के बाद बुढापा आना शुरू हो जाता है, नेत्रशक्ति क्षीण होने लग जाती है। आज वैज्ञानिक इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। विज्ञान कहता है – चालीस वर्ष के आस-पास आख की शक्ति कम होनी शुरू हो जाती है। एक बार मैंने आंखों का परीक्षण कराया। उस समय मैं सैंतीस वर्ष का था। डाक्टर ने परामर्श दिया – महाराज! आपको पढ़ना बहुत पडता है, इसलिए अब आपको चश्मा लगा लेना चाहिए, जिससे आखे ठीक काम करती रहे।

वैज्ञानिक स्वर

चालीस वर्ष की अवस्था आने पर इन्द्रियो का बुढ़ापा शुरू हो जाता

है। जो काम करना है, उसे चालीस वर्ष से पहले पहले पूरा कर लेना चाहिए। यह कितना वैज्ञानिक स्वर है – बुढापा न आए तब तक जो कुछ श्रेय करना है, कर लो। बुढ़ापे के भरोसे नही रहना चाहिए। आज का युवक सोचता है – अभी क्या अवस्था है? खूब धन कमाए, भोग भोगे। धर्म करने की अवस्था तो बाद मे है। यह चिन्तन वर्तमान में ही नही, अतीत मे भी चलता रहा है। उत्तराध्ययन मे मुनि बनने के लिए उद्यत अपने पुत्रो से भृगु कहते हैं – यह दीक्षा लेने का समय नही है, अभी तुम भोग भोगो। जब अवस्था आए तब मुनि बनना। इस चिन्तन के सदर्भ मे महावीर कहते हैं – आज का काम कल पर मत छोडो। 'मैं कल करूगा' यह वही व्यक्ति कह सकता है, जिसने मौत के साथ मैत्री गाठ ली हो।

कथन युधिष्ठिर का

महाभारत का प्रसग है। युधिष्ठिर के पास कोई याचक आया और उसने किसी वस्तु की याचना की। युधिष्ठिर ने कहा – आज नही, कल दूगा। युधिष्ठिर के इस वाक्य को भीम ने सुना। उसने तत्काल नगाडे बजाने का आदेश दे दिया। युधिष्ठिर ने कहा – यह असमय में नगाडे कौन बजा रहा है? नगाडे क्यो बजाए जा रहे हैं? युधिष्ठिर ने भीम से कहा – भीम! यह क्या कर रहे हो। भीम ने जवाब दिया – महाराज! आज बडी खुशी की बात है। आप कालजयी बन गए हैं।

किसने कहा?

आपने ही तो याचक से कहा था – मैं आज नही, कल दूगा। इसका अर्थ है – आपका कल तक जीना निश्चित हो गया। आपने कल तक के लिए मौत को जीत लिया।

युधिष्ठिर ने अपनी भूल स्वीकार की, नगाडे बजने बद हो गए।

साम्यबिंदु

हम उत्तराध्ययन और महाभारत के इन दोनो प्रसगो को मिलाए। चिन्तन में कितना साम्य है! उत्तराध्ययन और महाभारत मे कही कही तो इतना साम्य है कि सहज ही यह प्रश्न उठ जाता है – सस्कृत का

आज बाल-सुधार-गृह बनाए जा रहे हैं। यह चिन्तन प्रबल बन रहा है– दण्ड से मनुष्य को सुधारा नही जा सकता। उसे सुधारना है तो सुधार-गृह बनाना होगा।

समाज की भूमिका

ऐसा लगता है – समाज का चिन्तन निरतर विकास की ओर जा रहा है। यदि हम ढाई हजार वर्ष पहले की बात मानकर चले तो आख फोडने, कान मे शीशा डालने, हाथ काट देने जैसे क्रूर दड-विधानो को अपनाना होगा। ये हमारे धर्मशास्त्र के कानून हैं। परिवर्तनशील नियमो को शाश्वत नियमो के साथ जोड दिया गया इसीलिए यह अज्ञान बढ़ा। जैन आचार्यों ने कभी ऐसी भूल नही की। उनका स्पष्ट चिन्तन रहा – हमारी सीमा है अध्यात्म को बताना, धर्म को बताना। समाज की भूमिका बदलती रहती है। उसे कभी धर्म के साथ नही जोडना चाहिए। यह काम अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री का है।

शाश्वत को अशाश्वत के साथ न जोड़ें

धर्म का काम इतना अवश्य है कि उसमे जो कुछ अवाछनीय लगे, उस पर अकुश लगाए। काम या अर्थ की कोई बात अवाछनीय लगे तो धर्म का काम है कि वह उस अवाछनीय तत्त्व को हटाने की उत्प्रेरणा बने किन्तु धर्म और मोक्ष के शाश्वत नियमो के साथ अशाश्वत नियमो को जोडकर उन्हे धर्म का रूप दे दिया जाए, शाश्वत नियमो का स्थान दिया जाए तो वह समाज के लिए भी कल्याणकारी नही होगा, धर्म के लिए भी कल्याणकारी नही होगा। यह दृष्टि जितनी साफ रहेगी, धर्म और समाज – दोनो का उतना ही भला होगा। उत्तराध्ययन मे पुरुषार्थद्वयी का जो प्रतिपादन है, वह सोच-समझकर किया गया प्रयोग है। इन सारे दृष्टिकोणो को सामने रखकर हम उत्तराध्ययन एव महाभारत को पढे और जो जो सारभूत लगे, उसकी उपासना करे। यदि ऐसा होता है तो तुलनात्मक अध्ययन हमारे सर्वतोमुखी लाभ का कारण बन पाएगा।

आचारांग और गीता (१)

उलझन भरा प्रश्न

हमारी दुनिया मे एक आदमी नही है। अनेक आदमी हैं। विचार एक नही है। अनेक विचार हैं। अनेक व्यक्तियो के विचार तो अनेक हैं ही पर एक आदमी का विचार भी एक नही है। एक दिन मे कई बार उसके विचार बदलते रहते हैं। अनेक आदमी हैं, अनेक विचार हैं तो अनेक धर्म क्यो नही होगे? अनके सप्रदाय क्यो नही होगे? धर्म भी अनेक बन गए, सत्य भी अनेक बन गए, ग्रथ भी अनेक बन गए। एक समस्या पैदा हो गई – किस बात को सच माने और किस बात को झूठ माने। किस धर्म का अनुगमन करे और किस धर्म का अनुगमन न करे? यह एक उलझन भरा प्रश्न है।

बुद्धि का स्तर : अनुभव का स्तर

यह जगत् नाना वादो से इतना जटिल बन गया है कि योगी की जटा भी इतनी जटिल नही होती। इसे सुलझाने का एक ही उपाय है। यह कघी से नही सुलझेगी। उस्तरे से ही इसे सुलझाना होगा। वह उस्तरा क्या है? हम रूपक की भाषा मे सोचे। हमारा जो बुद्धि का व्यवसाय है, जो बौद्धिक कसरते हैं, वे कंघिया हैं। उस्तरा है हमारा अनुभव। जहा अनुभव होता है, वहा सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। एकत्व या निर्द्वन्द्व की स्थिति अनुभव के स्तर पर घटित होती है। जिन लोगो ने अनुभव के स्तर पर बात कही है, उनकी बात मे कोई अन्तर नही है।

स्वाभाविक प्रश्न

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है – सत्य एक है तो फिर वाणिया अनेक क्यो? ग्रथ अनेक क्यो? इस समस्या को सुलझाने के लिए हम एक सामान्य भूमिका पर आए और वह यह है कि जो-जो बात अनुभव के स्तर पर कही गई है, उसमे कोई मतभेद नही है। जो भी अनुभूति

के स्तर पर पहुचा, उस भूमिका से उसने जो कहा, वह देशातीत और कालातीत बन गया। अनुभव के स्तर पर कही गई बात, चाहे वह किसी भी समय मे, किसी भी आदमी ने कही हो, समान ही होगी। जब हम कभी अनेक विचारको को पढते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या किसी ने किसी की बात को लिया है। महावीर, सुकरात, ताओ, कन्फ्यूशियस – सबके विचार, सबका चिन्तन एक जैसा है। क्या किसी ने किसी से लिया है? पर ऐसा नही है। वे सब विचार अनुभव के धरातल पर जन्मे हुए विचार हैं। जहा अनुभूति का प्रश्न है वहा कोई अतर नही होता। अतर होता है बौद्धिकता मे। भेद करने वाली है बुद्धि। जहा एकत्व और अद्वैत है वहा बुद्धि के व्यवसाय की जरूरत ही नही है। भेद का प्रश्न ही नही है।

तात्पर्य को पकडें

हम आचाराग और गीता को इस भूमिका पर पढे, अनुभव के स्तर पर पढ़े। ऐसा लगेगा – दोनो मे भाषा का अतर हो सकता है, शैली का अतर हो सकता है किन्तु जो तात्पर्यार्थ है, उसमे कोई अतर नहीं है। हम शब्दों को पकडते हैं, तात्पर्य को नही पकडते। केवल शब्दो के आधार पर आचाराग और गीता को पढेगे तो ऐसा लगेगा – आचाराग जा रहा है पूरब दिशा में और गीता जा रही है पश्चिम दिशा मे। जब हम तात्पर्य मे जाते हैं तो ऐसा लगता है – गोल दुनिया मे सब मिल जाते हैं, आचाराग और गीता मे कोई अतर दिखाई नही देता।

संदर्भ · श्रद्धा

महावीर ने कहा – 'सड्ढी आणाए मेहावी' – जो मेधावी है, वह आज्ञा मे श्रद्धावान् होता है। वह ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होता है, अपनी सारी सत्ता का नियोजन ज्ञान में कर देता है। आज्ञा का मतलब है अनुभव का ज्ञान। जो अतीन्द्रिय ज्ञान मे श्रद्धालु होता है, वह आज्ञा मे श्रद्धा करता है। जहा बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है वहा श्रद्धा और समर्पण नही हो सकता, सदेह या दुराव होगा।

गीता मे श्री कृष्ण कहते हैं –

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य, मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

ज्ञान योग, कर्म योग सब झझट हैं। इन्हे छोडो और मेरी शरण को स्वीकार करो। तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हे सब पापो से मुक्ति दिला दूगा।

अकर्ताभाव

यह माना जाता है – गीता की शैली अकरण प्रतिपादन की शैली है। करण शैली वह है, जहा अभ्यास की बात आती है – अभ्यास करो और पाओ। आचाराग की भाषा है – अपने मन, चित्त और बुद्धि का भगवान की आज्ञा मे नियोजन कर दो। गीता की शैली है – मेरी शरण मे आ जाओ। इन दोनो के तात्पर्य मे कोई अतर नही है।

गीता मे कहा गया है–

अहकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।
नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्वविद्।।

जो अहकार से विमूढ आत्मा है, वह यह मानता है कि मैं कर्ता हू, किन्तु जो तत्वविद् है, वह यह मानता है कि मैं कुछ नही कर रहा हू, सब कुछ हो रहा है।

समर्पण का स्वर

जहा कर्तृत्व का भाव आया वहा अहकार का भाव आ गया। तेरापथ धर्मसघ मे समर्पण की एक परपरा रही है – कर्तृत्व को स्वय पर आरोपित नही करना। जो तत्त्व को जानता है, गीता के सूत्र को पकडने वाला है, उसका स्वर होगा–मैं कुछ नही करता हू, बस हो रहा है।

आचाराग का सूत्रकार कहेगा – सत्य के प्रति समर्पण करो। गीता का सूत्रकार कहेगा – मेरे मे चित्त लगाओ। गीता मे पुरुष बोलता है और आचाराग मे सत्य बोलता है। गीता मे कृष्ण का मतलब सत्य से है। एक कृष्ण (सत्य) नही होता तो पाण्डवो की क्या दशा हो जाती? हम इन वाक्यो का हार्द पकडें। तात्पर्य मे अतर कहा है? आचाराग का

महावीर और गीता का कृष्ण तात्पर्यार्थ में एक ही स्तर पर हैं। शब्दों के भेद को निकाल दें तो साम्य उपलब्ध हो जाएगा।

भरोसा साक्षात्कार पर

समस्या यह है — इन्द्रियो और बुद्धि का ज्ञान बडा स्थूल होता है। आख और कान का ज्ञान बडा धोखा देने वाला ज्ञान होता है। हमें भरोसा करना चाहिए प्रज्ञा पर, साक्षात् ज्ञान पर। भरोसा करना चाहिए अपरोक्षानुभव पर। आचार्य शकर ने कहा—

बिना परोक्षानुभव, ब्रह्म ब्रह्मेति वादिने।

अपरोक्षानुभव तो हुआ ही नही और ब्रह्म की बात कर रहे हैं। जब तक साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति नही होती तब तक किसी के बारे मे क्या कहा जा सकता है? शब्दो या शास्त्रों की दुर्दशा केवल मानने वाले अनुयाइयो ने जितनी की है उतनी किसी ने नही की। कहने वाले अनुभव के स्तर पर थे और मानने वाले बुद्धि के स्तर पर भी पूरे नही हैं।

यात्रा करें सत्य की

भगवान् महावीर ने इस बात पर बहुत बल दिया — मौत को तरना है तो कामना को तरना होगा। शकर ने तीसरे नेत्र के द्वारा काम को जलाया था। यह मार है, मोहजाल है। इसे कौन तर सकता है? महावीर ने कहा — जो सत्य के ज्ञान मे उपस्थित हो जाता है, वही इस मार को तर सकता है। श्री कृष्ण भी यही कहते हैं—

मच्चित्ते सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति।

सब दुर्गों को पार करने के लिए तुम चित्त को मुझ मे लगा दो। मेरे प्रसाद से तुम तर जाओगे।

हम ऊपर के भेदो को छोडकर जो सत्य है, उसकी यात्रा करे। उससे जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति इन शब्दो के भेदो से कभी नही हो सकती।

आचारांग और गीता (२)

जीवन को जानना, समझना और जीना बहुत जरूरी है। हम जीवन को जीते हैं, पर उसे जानते नही हैं। जीवन के लिए जो करना चाहते हैं, वह करते नही। जीवन की शैली वह अच्छी हो सकती है, जिसमे समग्रता हो। जीवन खण्ड-खण्ड नही, अखण्ड होना चाहिए। अखड और समग्र व्यक्तित्व का जीवन जीना शान्ति एव सुख-सुविधा के लिए जरूरी होता है। जिस जीवन मे ज्ञान, कर्म और भक्ति— इन तीनो का योग होता है, वह जीवन अखड होता है, वह व्यक्तित्व परिपूर्ण होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति

अखण्ड व्यक्तित्व के लिए ज्ञान का होना जरूरी है, कर्म और भक्ति का होना जरूरी है। कोरा ज्ञान है, जानने की क्षमता है और क्रिया की शक्ति नही है तो जीवन खंडित रहता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र कुमार जी बहुत बार कहते थे — मेरे पास चिन्तन है, मैं सोच सकता हू पर कठिनाई यह है कि मेरे मे कर्मजा शक्ति नही है। जैनेन्द्र जी ने कहा — मेरे मन मे आचार्यश्री के प्रति जो अनुराग का भाव है, वह इसलिए है कि आचार्यश्री मे ज्ञान के साथ-साथ कर्मजा शक्ति भी है। आचार्यश्री जानते हैं, सोचते हैं और कर डालते हैं। ज्ञान और कर्म — दोनो होते हैं तो भी व्यक्तित्व परिपूर्ण नही बनता। आदमी जानता है और उसमे कर्म करने का सामर्थ्य है तो अहकार के लिए खुला निमन्त्रण मिल जाता है। व्यक्ति जानने की शक्ति और कर्म करने की शक्ति — दोनो से सपन्न हो और अहकारी न हो तो आश्चर्य की बात हो सकती है। जीवन मे अहकार आता है, जीवन टूटना शुरू हो जाता है। अहकार से बचने का उपाय है भक्ति योग। समर्पण, विश्वास और श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो अहकार को पनपने का अवसर नही

महावीर और गीता का कृष्ण तात्पर्यार्थ मे एक ही स्तर पर हैं। शब्दो के भेद को निकाल दे तो साम्य उपलब्ध हो जाएगा।

भरोसा साक्षात्कार पर

समस्या यह है – इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान बडा स्थूल होता है। आख और कान का ज्ञान बडा धोखा देने वाला ज्ञान होता है। हमें भरोसा करना चाहिए प्रज्ञा पर, साक्षात् ज्ञान पर। भरोसा करना चाहिए अपरोक्षानुभव पर। आचार्य शकर ने कहा–

बिना परोक्षानुभव, ब्रह्म ब्रह्मेति वादिने!

अपरोक्षानुभव तो हुआ ही नही और ब्रह्म की बात कर रहे हैं। जब तक साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति नही होती तब तक किसी के बारे में क्या कहा जा सकता है? शब्दो या शास्त्रों की दुर्दशा केवल मानने वाले अनुयाइयो ने जितनी की है उतनी किसी ने नही की। कहने वाले अनुभव के स्तर पर थे और मानने वाले बुद्धि के स्तर पर भी पूरे नही हैं।

यात्रा करें सत्य की

भगवान् महावीर ने इस बात पर बहुत बल दिया – मौत को तरना है तो कामना को तरना होगा। शंकर ने तीसरे नेत्र के द्वारा काम को जलाया था। यह मार है, मोहजाल है। इसे कौन तर सकता है? महावीर ने कहा – जो सत्य के ज्ञान मे उपस्थित हो जाता है, वही इस मार को तर सकता है। श्री कृष्ण भी यही कहते हैं–

मच्चित्ते सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति।

सब दुर्गों को पार करने के लिए तुम चित्त को मुझ मे लगा दो। मेरे प्रसाद से तुम तर जाओगे।

हम ऊपर के भेदो को छोडकर जो सत्य है, उसकी यात्रा करें। उससे जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति इन शब्दो के भेदों से कभी नही हो सकती।

आचारांग और गीता (२)

जीवन को जानना, समझना और जीना बहुत जरूरी है। हम जीवन को जीते हैं, पर उसे जानते नही हैं। जीवन के लिए जो करना चाहते हैं, वह करते नही। जीवन की शैली वह अच्छी हो सकती है, जिसमे समग्रता हो। जीवन खण्ड-खण्ड नही, अखण्ड होना चाहिए। अखड और समग्र व्यक्तित्व का जीवन जीना शान्ति एव सुख-सुविधा के लिए जरूरी होता है। जिस जीवन मे ज्ञान, कर्म और भक्ति— इन तीनों का योग होता है, वह जीवन अखड होता है, वह व्यक्तित्व परिपूर्ण होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति

अखण्ड व्यक्तित्व के लिए ज्ञान का होना जरूरी है, कर्म और भक्ति का होना जरूरी है। कोरा ज्ञान है, जानने की क्षमता है और क्रिया की शक्ति नही है तो जीवन खंडित रहता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र कुमार जी बहुत बार कहते थे — मेरे पास चिन्तन है, मैं सोच सकता हू पर कठिनाई यह है कि मेरे मे कर्मजा शक्ति नही है। जैनेन्द्र जी ने कहा — मेरे मन मे आचार्यश्री के प्रति जो अनुराग का भाव है, वह इसलिए है कि आचार्यश्री मे ज्ञान के साथ-साथ कर्मजा शक्ति भी है। आचार्यश्री जानते हैं, सोचते हैं और कर डालते हैं। ज्ञान और कर्म — दोनो होते हैं तो भी व्यक्तित्व परिपूर्ण नही बनता। आदमी जानता है और उसमे कर्म करने का सामर्थ्य है तो अहकार के लिए खुला निमत्रण मिल जाता है। व्यक्ति जानने की शक्ति और कर्म करने की शक्ति — दोनो से सपन्न हो और अहकारी न हो तो आश्चर्य की बात हो सकती है। जीवन मे अहकार आता है, जीवन टूटना शुरु हो जाता है। अहकार से बचने का उपाय है भक्ति योग। समर्पण, विश्वास और श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो अहकार को पनपने का अवसर नही

मिलता। जिसमें श्रद्धा, समर्पण और विश्वास नही है, अहकार उस पर हावी हो जाता है।

जीवन की समग्रता

भक्तियोग है परम के साथ अपना सबंध जोड लेना। जिसने भक्ति को अपने जीवन में रमा लिया, उसके ज्ञान और कर्म निर्दोष हो जाते हैं। ज्ञान पवित्र है पर आदमी को ज्ञान का भी अहकार होता है। कर्म तो अहकार का घर है ही। जब अहकार प्रबल बनता है, व्यक्ति गिरता चला जाता है। कर्म-होता है तो उसके साथ अनेक दोष आ जाते हैं। कर्म की समस्या को सुलझाने के लिए भक्ति का होना बहुत जरूरी है।

उसके बिना जीवन मे समग्रता या परिपूर्णता नही आती। आज बहुत सारे लोग कर्मठ हैं, कर्म करने में कुशल हैं किन्तु भक्तियोग के अभाव मे कर्म स्वय उलझन पैदा कर रहे हैं। कर्म का चक्र इतना बढ गया है कि व्यक्ति का जीवन दूसरो के लिए भार बन रहा है। कर्म के साथ आने वाले दोषो से बचने के लिए भक्ति का कवच पहनना जरूरी है। इस स्थिति मे यदि प्रदूषण पैदा हो तो वह भी समाप्त हो जाए।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र

मोक्ष की दृष्टि से विचार करे तो यही तथ्य प्रस्फुटित होता है। तत्वार्थ सूत्र का प्रसिद्ध सूक्त है – 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।' हमारी श्रद्धा और विश्वास की शक्ति है सम्यग् दर्शन। हमारे जानने की शक्ति है सम्यग् ज्ञान। हमारा कर्मयोग है सम्यग् चारित्र। इन तीनों की समन्विति मोक्ष-मार्ग है।

भागवत मे लिखा है–

योगस्त्रयो मया प्रोक्ता· नृणा श्रेयो विधित्सया।
ज्ञान कर्म च भक्तिश्च, नोपायोन्योस्ति कुत्रचित्।।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग श्रेयमार्ग का प्रतिपादन करने के लिए हैं। श्रेय के ये ही उपाय हैं, दूसरे नही।

·दो तट : एक प्रवाह

आज की भाषा मे कहा जा सकता है – समग्र जीवन जीने के लिए

तीन योग बतलाए गए। एक है ज्ञान का तट और एक है भक्ति का तट, दोनो के बीच मे कर्म की नदी का प्रवाह चले तो जीवन निर्मल रहेगा। यदि प्रवाह के दोनो ओर ज्ञान और भक्ति के तट नही होते हैं या तटबध टूट जाते हैं तो समस्याए खडी हो जाती हैं। इनके बिना समग्र जीवन की व्याख्या नही की जा सकती। सामाजिक जीवन जीने का परिपूर्ण रास्ता यही है, शेष सारे रास्ते अपूर्ण हैं।

हम विश्व की स्थिति को देखे। लोगो ने कर्म पर बहुत बल दिया – कर्म करो, उत्पादन करो। उत्पादन और वितरण पर बल दिया, भक्ति पर बल नही दिया इसलिए उत्पादन और वितरण की प्रणाली भी सफल नही हो सकी। ज्ञान पर, यान्त्रिकी-आभियान्त्रिकी पर बल दिया गया किन्तु साथ मे भक्ति का योग नही मिला। वे क्रम भी सफल नही हो सके। जीवन मे जो सरसता आनी चाहिए थी, वह नही आ पाई। ज्ञान, भक्ति और कर्म – इन तीनो मे एक की भी कमी रह जाती है तो बात पूरी नही होती।

एक कमी है

खपुटाचार्य प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। उनके पास आकाशगामिनी सिद्धि थी। हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री नागार्जुन ने इसकी उपलब्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया। आकाशगामिनी विद्या को सीखने के लिए वे खपुटाचार्य की उपासना करने लगे। खपुटाचार्य ज्योहि आकाश से जमीन पर आते, नागार्जुन उनके पैर धोते। आचार्य पैर मे कुछ रसायनो का लेप करते थे। नागार्जुन पैर धोने के बाद उस लेप को चखकर उसमें मिश्रित द्रव्यो को जानने का प्रयत्न करते। उस लेप में एक सौ आठ औषधियो का मिश्रण था। नागार्जुन ने उस लेप को चखते-चखते एक सौ सात औषधिया खोज ली। उन औषधियो से नागार्जुन ने लेप का निर्माण भी कर लिया। वे आकाश मे उडते और थोडी दूर जाते ही वापस गिर जाते। नागार्जुन इस समस्या का हल नही ढूढ पाए। उन्होने आचार्य से निवेदन किया – गुरुदेव। मुझे एक सौ सात चीजे तो मिल गई हैं किन्तु एक तत्त्व का पता नही चला। आप कृपा कर बताए – वह क्या है? आचार्य ने समाधान दिया – इस

मिश्रण में चावलों का माड और मिला लो, परिपूर्णता आ जाएगी।

समग्र जीवन की परिभाषा

जीवन की लबी यात्रा को वही व्यक्ति तय कर सकता है, जिसके जीवन में परिपूर्णता आ जाए। ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग– तीनो मिलते हैं तो जीवन मे पूर्णता आती है, जीवनशैली शांतिमय और सुखद बन जाती है। अन्यथा लोग जीते तो हैं किन्तु मर मर कर जीते हैं क्योंकि वे समग्र जीवन की कला को नही जानते। भारतीय दर्शन मे समग्र जीवन की जो परिभाषा की गई, वह यही है – क्रिया की शक्ति, जानने की शक्ति, समर्पण की शक्ति – सब कुछ विलीन करने की शक्ति – इन तीनो शक्तियों से सम्पन्न जीवन समग्र जीवन है। आचाराग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से समग्र जीवन की यह अवधारणा सहज ही प्रस्तुत हो जाती है।

समता, क्षमता और स्थिरता

आचाराग का अनुशीलन करने पर तीन तत्त्व फलित होते हैं – समता, क्षमता और स्थिरता। महावीर का अहिंसा का सिद्धात समता पर आधारित है। आचाराग का प्रवक्ता सामर्थ्य के बिना कुछ सोचता ही नही है। महावीर ने कहा – मैंने जो पराक्रम किया है, शक्ति का उपयोग किया है, तुम उसे देखो, अपनी शक्ति को मत छिपाओ। अपने सामर्थ्य का पूरा उपयोग करो। महावीर किसी को आलसी देखना नही चाहते थे। समता भी है, क्षमता भी है किन्तु स्थिरता नही होती है तो भी पूर्णता नही आती। जीवन शैली के तीन अंग बन गए– समतामयी जीवन शैली, क्षमतामयी जीवन शैली और स्थिरतामयी जीवन शैली।

गीता का जीवन-दर्शन

गीता के जीवन-दर्शन को देखे। यह विचित्र बात है – युद्धभूमि पर जो बात कही जा रही है, उससे भी यही जीवन का दर्शन फलित होता है। गीता का अध्ययन करने पर भी त्रिआयामी जीवनशैली का स्वरूप सामने आता है। गीता का प्रसिद्ध वाक्य है – समत्वं योग उच्यते। समता को योग कहा गया। योग और सयम – दो बात नही हैं। योग

का अर्थ है— चित्तवृत्ति का निरोध। सयम का अर्थ भी यही है। गीता मे उपरति को मूल्य दिया गया है। वृत्ति का मतलब है चचलता ही चंचलता और उपरति का मतलब है – स्थिरता। गीता मे भक्ति का भी बहुत प्रयोग किया गया है। श्री कृष्ण स्वय कहते हैं – पश्य मे योगमैश्वर्यम् – मेरे ऐश्वर्यपूर्ण योग को देख।

दर्शन आकाशी कल्पना नहीं है

यदि गीता को मध्यस्थ दृष्टि से पढे तो यह किसी एक दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ नही लगता। इसमे सर्वसग्राहिता है। आचाराग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य अधिक पुष्ट हो रहा है। समस्या यह है – दर्शन को केवल आकाशी कल्पना जैसा मान लिया गया और उसे जीवन की मुख्य धारा से तोड दिया गया। ऐसी मान्यता बन गई – जीवन है जीने के लिए, भोग भोगने के लिए और दर्शन है दिमागी व्यायाम के लिए। इस गलत धारणा से जीवन और दर्शन – दोनों का सबध टूट गया। यह बहुत बडी समस्या है। कोरा तत्त्वज्ञान सीखने से क्या होगा? यदि तत्त्व या दर्शन जीवन मे नही उतरा तो उसका ज्ञान किस काम का है? तत्त्वज्ञान को कर्म-ज्ञान की सज्ञा में लाए, उसे जीवन मे उतारकर जीवन जिए तभी दर्शन और जीवन की सार्थकता हो सकती है। हम आचाराग को ले या गीता को ले। ये दोनों जीवन के प्रायोगिक दर्शन हैं। ये केवल जानने के लिए ही नही, जीवन मे प्रयोग करने के लिए हैं। इन्हे शास्त्रो का भार न बनाए, इनके मर्म को समझे। यदि दर्शन जीवनमय बन जाए, ज्ञान और आचार अलग-अलग न रहे तो हमारा जीवन परिपूर्णता की ओर बढ़ता चला जाएगा। गीता और आचाराग का मुख्य सदेश यही है।

आचारांग और उपनिषद् (1)

वर्तमान शिक्षा की एक समस्या है – शिक्षा से बौद्धिक विकास बहुत हो जाता है किन्तु उससे जीवन मे आने वाली समस्याओ से जूझने की, उनका समाधान पाने की क्षमता नही जागती है या बहुत कम जागती है। यह समस्या आज की नही है, उपनिषद् काल मे भी यह समस्या रही है।

नारद की समस्या

नारद सनत्कुमार के पास आए और बोले – मुझे ऐसी विद्या दो, जिससे मैं शोक से तर जाऊ।

सनत्कुमार ने पूछा – बताओ! तुमने क्या क्या पढा है?

नारद ने कहा – मैंने ऋग्वेद को पढ़ा है। जितने वेदाग होते है, उन सबको सागोपाग पढ़ा है।

सनत्कुमार बोले – जिससे शोक को तरा जाता है, वह तुमने नही पढा है। जब तक तुम आत्मा को नही जानते तब तक शोक को नही तर सकते।

'शोक तरति आत्मविद्' – जो आत्मविद् होता है, वही शोक को तर सकता है। सयोग - वियोग की दुनिया में जीने वाला आदमी, जो केवल भौतिक विज्ञान को जानता है, जीवन की समस्याओं का, शोक और विषाद का पार नही पा सकता। हर्ष और शोक से परे वही जा सकता है, जो आत्मा को जानता है।

उपनिषद् मे आत्मा का बहुत बडा प्रकरण है। मूलत आत्मविद्या पहले क्षत्रियों के पास थी और उनसे वह ब्राह्मणो को प्राप्त हुई।

बदलाव का शक्तिशाली साधन

भगवान् महावीर ने कहा – सग को देखो, आसक्ति को देखो। आसक्ति

बहुत सताती है। लोग उसे छोडना चाहते हैं पर वह छूटती नही है। कारण यह है — हम देखना नही जानते। समस्या का समाधान है प्रेक्षा। जब तक हम किसी वस्तु का साक्षात्कार नही कर लेते तब तक वह छूटती नही है। आदतो से छुटकारा पाने का यह अचूक उपाय है। चाहे जैसी भी आदत हो, यदि उसे छोडना है तो उसका एक मात्र शक्तिशाली साधन है प्रेक्षा। जब व्यक्ति देखना सीख लेता है, आदत अपने आप छूट जाती है। उसे छोडने के लिए प्रयत्न नही करना पडता। जो बदलाव प्रेक्षा से आता है, वह अनेक बार पढने-सुनने से नही आ सकता। अनेक बार उपदेश पढने-सुनने वाला आदमी जैसा का तैसा बना रहता है और देखने वाले आदमी मे बदलाव घटित हो जाता है।

चिन्तन . दर्शन

हम सोचना जानते हैं, देखना नही जानते। सोचना मस्तिष्क का काम है पर देखने के लिए और गहरे मे जाना होता है। देखने की शक्ति आत्मा की शक्ति है। वह है अनुभव। जहा देखना शुरू होगा वहा चिन्तन एक बार बद हो जाएगा। चिन्तन और दर्शन — दोनो साथ-साथ नही चल सकते। आसक्ति को देखो, आसक्ति छूट जाएगी। उसका साक्षात्कार होगा तो सारी समस्याए स्वत सुलझ जाएंगी।

मूलकारण है आत्मा

उपनिषद् का प्रसग है। पूछा गया — यह पात्र क्या है? उत्तर मिला— मिट्टी है। प्रतिप्रश्न हुआ — मिट्टी कैसे है? कहा गया — यह सारा मिट्टी का विकार है। मृदेव सत्यं — सचाई है मिट्टी। मिट्टी मूल है, और सब उसके परिणमन हैं। ठीक इसी प्रकार मूल है आत्मा। जिसने मूल कारण को, आत्मा को नही जाना, उसकी वृत्तिया — शोक, हर्ष, भय, ईर्ष्या, लोभ आदि कभी मिटने वाली नही हैं। इन विकारो का मूल सबध हमारी आत्मा की कापायिक परिणति के साथ जुडा हुआ है। यदि हम आत्मा को नही मानते तो इनका समाधान कैसे होगा? इन सारी समस्याओ को मिटाने के लिए मूल कारण को खोजना होगा और वह है आत्मा।

पराविद्या का मूल्य

कठोपनिषद्, छादोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् आत्मा के

वारे मे बहुत चर्चा करते हैं। जो केवल भौतिक विद्याए पढते थे, उपनिषद् के ऋषि उनसे कहते – तुम आत्मा को नही जानते तो कुछ भी नही जानते। जब तक तुम पराविद्या को नही जानते तब तक तुम्हारा कोई समाधान नही हो सकता। आज की भाषा मे जो परामनोविज्ञान को नही जानता, वह अपनी समस्याओ को नही सुलझा सकता। कोरा मनोविज्ञान काम नही देता। मनोविज्ञान सिर्फ मन तक रह जाता है और मन हमारी चेतना का एक नीचे का स्तर है। जब तक आदमी मन की भूमिका पर रहेगा तब तक वह फुटबाल की तरह इधर-उधर उछलता रहेगा। हमे मन के बहुत पार जाना है। जब तक आदमी मनोतीत भूमिका मे नही जाएगा तब तक मन के खेल चलते रहेगे। मन की भूमिका से परे जाने पर ही व्यक्ति आत्मा की भूमिका पर आरूढ हो सकता है।

आचाराग · आत्मा का सूत्र

आचाराग आत्मा के आरोहण का सूत्र है। हम आचाराग सूत्र का आदि प्रकरण पढ़े, उसके मध्य को पढे, उसके अत को पढे – सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। आत्मा को छोड दे तो आचाराग कुछ भी नही है। महावीर के दर्शन का केन्द्र विन्दु है – आत्मा। आत्मा को समझे विना न ध्यान को समझा जा सकता है, न चित्त और मन को समझा जा सकता है। जिस व्यक्ति ने आत्मा को जान लिया, अपने आपको पहचान लिया, उसकी दुनिया विलकुल अलग हो जाएगी। उपनिषद् का ऋषि बोले या आचाराग का सूत्रकार, सचाई यही है– जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया, उसने दुनिया मे आने वाले सकट और समस्याओ का पार पा लिया।

आत्म-विज्ञान

जैन धर्म मे आस्था रखने वाले लोग लवी-लवी तपस्याए करते हैं। वर्षावास के दिनों में तपस्याओ का अटूट सिलसिला-सा चल पड़ता है। यह तपस्या की प्रेरणा कहा मे आती है? खाने की प्रेरणा तो आ सकती है क्योंकि भूख एक मौलिक मनोवृत्ति है पर भूखे रहने की प्रेरणा कहा से आती है? वह है आत्मा की प्रेरणा। आज एक नई शाखा के विकास की जरूरत है – आत्म-विज्ञान या चित्त-विज्ञान। आत्म-विज्ञान के सदर्भ में कहा जाएगा – जैसे भूख मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है वैसे ही उपवास

और तपस्या करना आत्मा की एक मौलिक मनोवृत्ति है। आत्मा का स्वभाव तो न खाना है। जो खाया जा रहा है, वह मन के स्वभाव के कारण खाया जा रहा है।

आचारांग और उपनिषद् का रहस्य-सूत्र

आत्मा को पकडना मूल बात को पकडना है। अगर हम इस मूल सचाई को पकड लेते हैं, आत्मा को समझने का प्रयत्न करते हैं तो उपनिषद् का सार भी समझ मे आएगा, आचाराग का हृदय भी पकड मे आएगा और वह सत्य, जो केवल सत्य है, अद्वैत के रूप मे हमारे सामने आएगा। जरूरी है शास्त्रो के साथ साथ आत्मा को पढना। इसके विना शास्त्र कभी सहायक नही वनेगा। शास्त्र का काम है दिशा दिखा देना। वह कभी साथ नही चलता। हमारे साथ चलेगी हमारी आत्मा इसलिए हम आत्मा के बारे मे चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करे, श्रवण, ज्ञान और विज्ञान करे। आत्मा को पा लिया तो आचाराग और उपनिषद् का सम्पूर्ण रहस्य पा लिया, सारे शास्त्रो का ज्ञान हस्तगत कर लिया। आचाराग और उपनिषद् के तुलनात्मक अध्ययन एव अन्वेषण का अर्थ है — आत्म - साक्षात्कार की दिशा मे प्रस्थान।

आचारांग और उपनिषद् (२)

चिन्तन : नया पड़ाव

भारतीय तत्त्वचिन्तन में उपनिषद् एक नया पडाव है। एक समय था— जब भौतिकवाद का बहुत प्रभाव था और बहुत प्रभाव था देववाद का। प्रकृति का कोई भी कण ऐसा नही, जिसमे देववाद का आरोपण न कर लिया गया हो। यह स्थिति बहुत व्यापक बनी हुई थी। उस समय श्रमणो की धारा ने युग को प्रभावित किया। आत्मवाद के द्वारा एक नई शक्तिशाली धारा ने जन्म लिया। उसका सबध उपनिषद् से भी है। मैं नही सोचता कि उपनिषद् कोरा वैदिक साहित्य है। यह व्यापक साहित्य रहा है। जहा से भारतीय चिन्तन मे एक नया मोड आया है, उपनिषद् की उपस्थिति रही है। भगवान् पार्श्व का समय भारतीय चिन्तन के लिए विशिष्ट समय रहा है। उपनिषद् का समय भी उन्ही के आस-पास है।

उपनिषद् की स्थापना

अध्यात्मवाद और आत्मवाद ने भौतिकवाद को बहुत प्रभावित किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् और औसीतकी का एक प्रसग है। अभिमानी वालाकी काशीराज अजातशत्रु के पास जाता है। दोनो मे वार्तालाप होता है। वालाकी स्वाभिमानी था। उसने आधिदैविक शरीर तक सारी सीमाएं वना रखी थी। काशीराज अजातशत्रु आत्मविज्ञ थे। काशीराज ने कहा — तुम शरीर और पदार्थों पर अटके हुए हो। तुमने आत्मा की कभी अनुभूति नही की।

उपनिषद् का महत्त्व इसलिए वढ़ जाता है कि वह आधिदैविक या आधिभौतिक सत्ताओ और कर्मकाण्डो से हटकर एक आत्मा—ब्रह्म की स्थापना करता है। सारी सत्ता चैतन्य की है। चैतन्य ही सव कुछ है, जड का कोई अस्तित्व नही है। इस सम्वध मे उपनिषद्कारो ने एक नई

स्थापना की। केनोपनिषद् कहता है – 'हमारे इस जगत् मे जितनी शक्तिया हैं, वे अनतशक्ति वाले ब्रह्म की ही आंशिक शक्तिया हैं, केवल अभिव्यक्ति हो रही है।

आचारांग का प्रतिपाद्य

आचाराग इसका समीक्षा सूत्र है। आचाराग ने इस बात को स्वीकार नही किया – सारी शक्तिया उस अनतशक्ति–ब्रह्म की ही आंशिक शक्तिया हैं। यदि उसी ब्रह्म की आंशिक शक्तिया हैं तो क्या वे दानवो मे नही थी? इस सदर्भ मे आचाराग का प्रतिपाद्य यह है – प्रत्येक प्राणी मे अपनी अपनी अनत शक्ति है। केवल एक ब्रह्म मे ही अनत शक्ति नही है। चाहे पृथ्वी का जीव है, पानी, अग्नि या वायु का जीव है, प्रत्येक मे अपनी अपनी अनत शक्ति है। हमारी शक्तियो की जो अभिव्यक्तिया होती हैं, वे किसी से उधार ली हुई नही हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र ब्रह्म है।

बिम्ब . प्रतिबिम्ब

उपनिषद् और आचाराग की स्थापना में यह बहुत बडा अन्तर है। उपनिषद् प्रत्येक शक्ति का एक केन्द्र ब्रह्म को मानता है और जगत् को मायाजाल। आचाराग – जैन दर्शन का अभिमत है – कोई भी प्राणी किसी का प्रतिविम्ब नही है। प्रत्येक प्राणी का अपना अपना विम्ब है। प्रत्येक प्राणी मे अपनी स्वतत्र और अनत चेतना है। यह अनत शक्तिवाद है। अनतशक्ति और स्वतत्र सत्ता प्रत्येक मे है। जिसका अस्तित्व अनावृत हो गया, उसका प्रकट हो गया। जिसका आवृत है, उसका पूरा अभिव्यक्त नही हुआ है। यह अभिव्यक्ति का तारतम्य ही नानात्व है।

भेद है आदान का

आचाराग का प्रसिद्ध सूत्र है – **आयाणं निसिद्धा सगडब्भि** – यह एक सूत्र ही सारी स्थापना के दर्शन को वदल देता है। किस व्यक्ति ने वाहर से कितना लिया है? एक आदमी से दूसरे आदमी मे अन्तर क्या है? इस भेद के कारण को समझना है। भेद है आदान का, आयतन का। थाली का आयतन छोटा है और नदी का आयतन वहुत वडा है। जो

जितना बाहर से लेगा, वह उतना ही दवा रहेगा। जो व्यक्ति वाहर से जितना कम लेगा, वह उतना ही स्वतत्र होता चला जाएगा, खिल जाएगा, व्याप्त हो जाएगा। जो जितना कर्ज लेता है, वह उतना ही भार से दब जाता है। अपनी पूंजी से व्यापार करने वालो को कोई चिन्ता नही होती। हम सारा का सारा कर्ज ले रहे हैं, बाहर से आयात कर रहे हैं।

आचारांग की प्रस्थापना

जैन दर्शन कहता है – जितना आदान है, उतनी ही हमारी शक्तिया दवी हुई हैं। हम जितना आदान का निषेध करेगे उतना ही उत्तम होगा, हमारी अनन्त शक्ति का दरवाजा खुल जाएगा।

आचाराग की यह महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है – हम किसी दूसरी शक्ति की अभिव्यक्ति नही हैं किन्तु अपनी स्वतत्र सत्ता से सचालित हैं। जहा उपनिषद् एक ब्रह्म की स्थापना करता है वहा आचाराग अनेक ब्रह्म की स्थापना करता है। जैन दर्शन मे एकात्मवाद नही, अनेकात्मवाद मान्य है। जहा अनेकात्मवाद मान्य होगा वहा द्वैतवाद की सभावना बहुत बढ जाएगी।

जडाद्वैत : चैतन्याद्वैत

यह समझने मे वडी कठिनाई है कि चैतन्य के द्वारा ही सारा सचालित हो रहा है, चैतन्य मे से जड उपजा है। एक प्रश्न होता है – जब चैतन्य मे इतनी ताकत है कि उसने जड को पैदा कर दिया तो चेतना को भरना उसके लिए कौनसी वडी वात थी? दूसरा प्रश्न है –अगर चैतन्य से जड पैदा होता है तो जडाद्वैतवाद, नास्तिकवाद या चार्वाक के इस सिद्धान्त – जड मे से चेतना पैदा होती है – को कैसे रोका जा सकता है? इस दर्शन के समरागण मे दो सेनाए आमने-सामने खडी हैं – एक है अद्वैतवादी सेना और दूसरी है जडाद्वैतवादी सेना। एक का कहना है – सव कुछ चैतन्य से पैदा हुआ है तो दूसरी का कहना है – सव कुछ जड से पैदा हुआ है। पहली सेना का मोर्चा जितना शक्तिशाली है उतना ही शक्तिशाली है दूसरी सेना का मोर्चा। यदि चेतन से अचेतन पैदा हो सकता है तो अचेतन मे चेतन पैदा क्यो नही हो सकता? इस प्रश्न का समाधान करना भी बहुत कठिन है। यदि दोनो को ही सच मान ले, संधि

कर ले तो बात ठीक हो सकती है। इस स्थिति मे यथार्थवाद बहुत समाधानकारक लगता है।

यथार्थवाद

द्वैतवाद का मतलब है यथार्थवाद। दोनो का स्वतत्र अस्तित्व है – चेतन का अपना अस्तित्व और अचेतन का अपना अस्तित्व। लोक व्यवस्था का एक सूत्र है – न कभी ऐसा हुआ है, न कभी ऐसा होता है और न कभी ऐसा होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए। जीव और अजीव – इन दोनो मे अत्यन्ताभाव है। दोनो कभी भी एक दूसरे मे नही बदलते। यही है द्वैतवाद। द्वैतवाद का मतलब है – दुनिया मे जो कुछ भी है, उसका मूल कारण एक नही है, दो हैं। चेतन और जड की अपनी अपनी स्वतत्र सत्ता है।

समाधान-सूत्र

आज परामनोविज्ञान के क्षेत्र मे यह चर्चा का विषय है – शरीर और मन का सबध कैसे हुआ? शरीर अचेतन–जड है और मन चेतन है। दोनो की स्वतत्र सत्ता है तो दोनो का सबध कैसे? यह एक समस्या है। इसका समाधान अनेकान्त के द्वारा ही किया जा सकता है। शरीर का चेतना पर और चेतना का शरीर पर प्रभाव होता है, आचाराग की इस बात को स्वीकार करे तो समस्या को एक समाधान उपलब्ध होता है। उपनिषद् एव आचाराग और इनसे उपजने वाले द्वैतवाद-अद्वैतवाद केवल दार्शनिक पहेली ही नही हैं, हमारे जीवन-व्यवहार से जुडे हुए तत्त्व हैं। इनके आलोक मे हम अपने जीवन-दर्शन की मीमासा कर सकते हैं।

पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्

मेरे सामने दो ग्रथ हैं—पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्। पातजल योगदर्शन दो हजार वर्ष पुराना ग्रन्थ है और मनोनुशासनम् पच्चीस-तीस वर्ष पुराना। दोनो की तुलनात्मक दृष्टि से मीमासा करनी है। वस्तुत तुलना करना बहुत कठिन भी है और बहुत सरल भी है। कोई भी विषय ऐसा नही है, जो किसी एक बिन्दु पर समान न होता हो। एक बिन्दु ऐसा आता है, दोनो ग्रन्थ समान भूमिका पर आ जाते हैं। जहा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसमे कोई अन्तर नही है। ऐसे कुछ बिन्दु और हो सकते हैं, जो एक समान प्रतीत होते हैं किन्तु वह वास्तविक तुलना नही है। किस ग्रन्थ की आधार-भूमि क्या है? किस पृष्ठभूमि के आधार पर उसका दर्शन पनपा है, विकसित हुआ है? इन प्रश्नो के सदर्भ मे जो तुलना होती है, वह वास्तविक होती है।

•धर्म की दो धाराएं

पातजल योगदर्शन साख्य दर्शन की साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रथ है। मनोनुशासनम् जैन साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रथ है। दोनों के पीछे अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। आश्चर्य यह है कि दोनों मे बहुत समानता है। दोनो निवृत्तिवादी धारा के प्रतिनिधि ग्रथ हैं।

धर्म की दो धाराए रही हैं—प्रवृत्तिवादी धारा और निवृत्तिवादी धारा। प्रवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—स्वर्ग। निवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—मोक्ष, निर्वाण या शांति। प्रवृत्तिवादी धारा का साधना मार्ग है—ईश्वर की पूजा करना, ईश्वर की आराधना करना, दान-पुण्य करना आदि। निवृत्तिवादी धारा मे जो साधना मार्ग है, उसमे निरोध की बात मुख्य है—आश्रव का निरोध करना, क्लेश का निरोध करना आदि। निर्वाण के लिए निरोध जरूरी है। उसमे ईश्वर पूजा या दान-पुण्य की कोई मुख्यता नही है।

योग शब्द की व्यापकता

निर्वाण की साधना प्रारभ होती है निरोध से। पतजलि ने अपना साधना का मार्ग 'योग' से शुरू किया। आज योग शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। यद्यपि जितनी निवृत्तिवादी धाराए रही हैं, उनमे 'योग' शब्द सामान्य रूप से प्रचलित रहा है। जैन, बौद्ध और साख्य—इन तीनों मे योग शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। जैन धर्म मे योग शब्द के अनेक आयाम विकसित हुए हैं—तपोयोग, भावनायोग, सवरयोग, स्वाध्याययोग आदि आदि। योग की एक समग्र पद्धति रही है। महर्षि पतजलि ने योग-दर्शन का निर्माण किया और उसमे 'योग' शब्द को बहुत व्यापकता दी। पातजल योगदर्शन योग का एक व्यवस्थित ग्रन्थ है। साधना के मार्ग मे ऐसे व्यवस्थित ग्रथ बहुत कम हैं। पातजल योगदर्शन का पहला सूत्र है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोध**—चित्तवृत्ति का निरोध करना योग है। निरोध है योग। योग का एक अर्थ जोडना भी होता है लेकिन प्रस्तुत प्रसग मे योग का अर्थ है—निरोध, समाधि। कहा जा सकता है—पातजल योगदर्शन समाधि का सूत्र है। उसमे समाधि की पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है।

योग क्रियायोग

मनोनुशासनम् जैन परपरा से जुडा हुआ ग्रन्थ है। इसमे दो बाते मुख्य हैं—निरोध और शोधन। धर्म के दो प्रकार हैं—सवर और निर्जरा। सवर है—योग-निरोध। निर्जरा है—शोधन। हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करे—निरोध के लिए शोधन बहुत आवश्यक है। सवर की अर्हता—निरोध की योग्यता बाद मे प्राप्त होती है। उससे पहले शोधन करना होता है। हम शोधन करे। शुद्धि होते-होते निरोध करने की क्षमता आती है। चित्त-वृत्ति का निरोध करना योग है, यह सूत्र तो ठीक है लेकिन इसमे बात पूरी नही होती। पतजलि को दो सूत्रो का निर्माण करना पडा—**चित्तवृत्तिनिरोधो योग** तथा **तप स्वाध्याय- प्रणिधानानि क्रियायोग**। योग और क्रियायोग—दोनो आवश्यक हैं। केवल योग से काम नही चल सकता, चित्तवृत्ति के निरोध से काम नही चल सकता। पहले निरोध होना ही कठिन है इसलिए उसके दो विभाग कर दिए गए—योग और क्रियायोग।

योग : मौलिक परिभाषा

मनोनुशासनम् उत्तरकालीन रचना है इसलिए उसमे प्रारम्भ से ही शोधन और निरोध—दोनो का समावेश है। योग की एक सर्वथा नई परिभाषा, जो शायद किसी भी प्राचीन ग्रथ में उपलब्ध नही है, मनोनुशासनम् मे है। योग की यह बिलकुल मौलिक परिभाषा है—**मनोवाक्काय-आनापान-इंद्रिय-आहाराणां निरोधो योगः। शोधनं च। पूर्वं शोधनं ततो निरोधः।** मन, शरीर, वाणी, आनापान, आहार और इन्द्रिय—ये छह पर्याप्तिया हैं, जीवनी- शक्तियां हैं। इन सारी शक्तियो का निरोध करना, इसका नाम है योग। केवल चित्तवृत्तियों का निरोध नही, इन सबका निरोध है योग। चित्तवृत्तियो के निरोध का अर्थ है मन का निरोध। मन के साथ सारी चित्त की वृत्तिया आ जाती हैं। वाक् का निरोधं, शारीरिक प्रवृत्ति का निरोध, आनापान का निरोध, आहार और इन्द्रियो का निरोध—इन सबका निरोध होता है तब योग—समाधि घटित होती है। विपरीत क्रम से चले तो सबसे पहले होगा आहार का निरोध। निरोध से भी पहले जरूरी है शोधन।

जरूरी है शुद्धि

अहमदाबाद के एक योग विशेषज्ञ हैं श्री दिवाकर पाण्डे। योग के संदर्भ में उनसे चर्चा चली। श्री दिवाकर पाण्डे ने कहा—जब तक मलो की शुद्धि नही होती, योग की बात कभी सफल नही हो सकती। केवल स्थूल शरीर के मलो की शुद्धि ही जरूरी नही है बल्कि प्राणशरीर और सूक्ष्मशरीर मे जो मल जमे हुए हैं, उनकी शुद्धि भी जरूरी है। जैन दर्शन की भाषा मे कहे तो कर्मशरीर की विशुद्धि, तैजस शरीर की शुद्धि और तैजस शरीर के द्वारा आभामण्डल—लेश्या की शुद्धि, स्थूल शरीर की शुद्धि—जब तक इन सबका शोधन नही होता, निरोध की बात सभव नही बनती। रोकना कठिन नही है, पर प्रश्न है रोके कैसे? जब तक शोधन नही होता, निरोध का प्रश्न समाहित नही होता। रोकने मे कितने व्यवधान आते हैं। कितनी प्रतिक्रियाए होती हैं। हम आदमी की बात छोड दें, जड वस्तु भी प्रतिक्रिया कर देती है।

प्रतिक्रिया : निदर्शन

एक आदमी छाता लिए चल रहा था। धूप आई, उसने छतरी को खोला और सिर पर तान लिया। वर्षा आई तब भी उसने ऐसा ही किया। यह क्रम दस-बीस दिन लगातार चलता रहा। एक दिन छतरी ने हाथ से कहा--तुम मुझे छोड दो। यह आदमी मुझे बहुत परेशान कर रहा है। जब भी कुछ कठिनाई आती है, मुझे अपने सिर पर तान लेता है। वर्षा और धूप आती है तो मुझ पर गिरती है। सारा कष्ट मैं सहन करू और यह आराम से चले, ऐसा नही होना चाहिए। तुम ऐसा करो--मुझे हाथ मे मत रखो, छोड दो, फिर मैं देखती हू कि क्या होता है? हाथ बोला--तुम भी कितनी नादान हो। तुम यह सोच रही हो कि मैं धूप और वर्षा से रक्षा कर रही हू, पर तुम यह भी सोचो--तुमको बनाया किसने? आदमी के मस्तिष्क ने ही तुम्हारा निर्माण किया है। अन्यथा तुम्हारा अस्तित्व ही नही होता। उसकी रक्षा करने मे तुम्हें कौन-सा कष्ट हो रहा है? तुम्हारा कार्य है त्राण देना, धूप और वर्षा से बचाना।

योग . समग्र परिभाषा

अचेतन मे भी प्रतिक्रिया होती है तो चेतन आदमी के मन मे न जाने कितनी प्रतिक्रियाए होती होगी। जहा निरोध की बात आएगी वहा प्रतिक्रियाए होंगी। हम सबसे पहले प्रतिक्रियाओं का शोधन करे। जब तक प्रतिक्रियाओ का शोधन नही होगा, निरोध की स्थिति सभव नही बन पाएगी।

महर्षि पतजलि ने पहले अध्याय के प्रारम्भ में योग-निरोध की बात कही और दूसरे अध्याय के प्रारभ मे क्रियायोग की बात कही। मनोनुशासनम् मे योग की परिभाषा मे ही पहले शोधन और उसके पश्चात् निरोध की बात प्रस्तुत है। केवल चित्तवृत्ति के निरोध से योग की पूरी परिभाषा नही बनती। चित्तवृत्ति का निरोध और क्रियायोग--दोनो मिलकर योग की पूरी परिभाषा देते हैं।

शोधन तपस्या से

हम तपस्या के द्वारा शोधन करें। व्यास ने तपस्या के सदर्भ मे लिखा--तप. द्वन्द्वसहनम्--तपस्या का अर्थ है द्वन्द्वो को सहन करना।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—ये जितने भी परीषह हैं, द्वन्द्व हैं, इनको सहन करना तपस्या है। तपस्या का एक अर्थ है अनशन—आहार शुद्धि। जो व्यक्ति आहार-शुद्धि पर ध्यान नही देता, उसे निरोध की कल्पना ही नही करनी चाहिए। जो व्यक्ति आहार की शुद्धि को नही जानता, अपान की शुद्धि को नही जानता, वह निरोध की साधना को नही जानता। प्राण से भी ज्यादा है अपान शुद्धि का महत्त्व। इन सबको उपलब्ध होने के लिए तपना पडता है। ऐसा कोई जादू का डण्डा नही है, जिसे घुमाया जाए और व्यक्ति योगी बन जाए। यदि ऐसा होता तो सारी दुनिया ही योगी बन जाती। पर ऐसा होता नही है।

शोधन को बलवान् बनाएं

बहुत कठिन है निरोध करना। निरोध की भूमिका तक पहुचने के लिए काफी तप तपना पड़ता है, निर्जरा और शुद्धि करनी होती है। निर्जरा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब निरोध की भूमिका बनती है। व्यक्ति कितने काल से निर्जरा करता चला आ रहा है! अनन्त काल से यह क्रम चल रहा है। प्रत्येक प्राणी निर्जरा करता है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो शुद्धि नही करता। प्रत्येक प्राणी थोडी-बहुत शुद्धि तो करता ही है। जो साधना के मार्ग मे जाना चाहता है, उसके लिए अधिकतम शुद्धि का मार्ग है। साधना के क्षेत्र मे जाने वाले व्यक्ति के सामने शोधन और निरोध—दोनो दृष्टियां स्पष्ट होनी चाहिए। पहले शोधन को बलवान् बनाए। आहार की शुद्धि करे। इन्द्रियो पर जो मल जमा हुआ है, उसे हटाए। श्वास-प्रश्वास की शुद्धि करे। वचन-तत्र—स्वर-यत्र को शुद्ध बनाए। शरीर और मन को शुद्ध करे। इससे वृत्तिया शुद्ध बनेगी, निरोध की स्थिति प्राप्त होगी।

समानता का धरातल

पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् के तुलनात्मक अध्ययन से समानता का जो धरातल प्रस्तुत होता है, उसका कारण है—साख्य दर्शन का जैन दर्शन के अधिक निकट होना। साख्य, जैन और बौद्ध—तीनो श्रमण परपरा के दर्शन हैं। साख्य दर्शन प्राचीन है। बौद्ध दर्शन इतना प्राचीन नही है। तीनो दर्शन निवृत्तिवादी हैं। अन्तर यह है—जहा बौद्धों

मे आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति नही है, वहा साख्य और जैन दर्शन मे आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति है। इसीलिए साख्य और जैन दर्शन—दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। कुछ पश्चिमी दार्शनिको ने, जिन्होने शायद पूरी परपरा का अध्ययन नही किया, यह कल्पना की—जैन दर्शन साख्य दर्शन से निकला है। अतिनिकटता के कारण ऐसा भ्रम हो सकता है और ऐसा भ्रम हुआ भी है। साख्य दर्शन मे प्रकृति का जो कन्सेप्ट है, वह जैन दर्शन मे नही है, फिर भी दोनो दर्शनो मे बहुत निकटता है, यह कहने मे सकोच नही होता। इसलिए पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् में सामीप्य का होना अस्वाभाविक नही है, किन्तु इनमे भेद नही है, यह भी नही कहा जा सकता।

संदर्भ आत्मा का

साख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, सर्वथा शुद्ध मानता है। उसकी साधना पद्धति मे आत्मा इसी रूप मे स्वीकृत है। मनोनुशासनम् मे आत्मा को भी परिणामीनित्य मानकर विचार किया गया है। आत्मा मे भी पर्याय का परिणमन होता है। जैन दर्शन की दृष्टि से कोई भी द्रव्य ऐसा नही है, जिसमे परिणमन न हो। साख्य दर्शन के अनुसार आत्मा अविकारी है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा वैसा नही है। जैन दर्शन के अनुसार कषाय आत्मा भी है, योग आत्मा भी है। जहा कषाय आत्मा और योग आत्मा है वहा आत्मा के साथ मन भी लगा हुआ है। जैन दर्शन की प्रक्रिया मे स्थूल शरीर के वाद तैजस शरीर, तैजस शरीर के वाद कर्म शरीर, कर्म शरीर के वाद कषाय और उसके वाद चैतन्य है। चैतन्य के साथ कर्म परमाणु इतने जुडे हुए हैं कि एक आत्मा के प्रदेश पर अनत अनत कर्म परमाणुओ के स्कन्ध चिपके हुए हैं। जैसे दूध और पानी मिल जाता है वैसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की बनी हुई है। जैन दर्शन मे साधना की प्रक्रिया केवल शरीर-शोधन की प्रक्रिया नही है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया भी है। मुख्य है आत्मा। साधना का सारा चिन्तन इसी आधार पर विकसित हुआ है।

संदर्भ अनुप्रेक्षा का

हम विकास की दृष्टि से देखें। मैत्री, प्रमोद, करुणा और

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—ये जितने भी परीषह हैं, द्वन्द्व हैं, इनको सहन करना तपस्या है। तपस्या का एक अर्थ है अनशन—आहार शुद्धि। जो व्यक्ति आहार-शुद्धि पर ध्यान नही देता, उसे निरोध की कल्पना ही नही करनी चाहिए। जो व्यक्ति आहार की शुद्धि को नही जानता, अपान की शुद्धि को नही जानता, वह निरोध की साधना को नही जानता। प्राण से भी ज्यादा है अपान शुद्धि का महत्त्व। इन सबको उपलब्ध होनें के लिए तपना पडता है। ऐसा कोई जादू का डण्डा नही है, जिसे घुमाया जाए और व्यक्ति योगी बन जाए। यदि ऐसा होता तो सारी दुनिया ही योगी बन जाती। पर ऐसा होता नही है।

शोधन को बलवान् बनाएं

बहुत कठिन है निरोध करना। निरोध की भूमिका तक पहुचने के लिए काफी तप तपना पड़ता है, निर्जरा और शुद्धि करनी होती है। निर्जरा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब निरोध की भूमिका बनती है। व्यक्ति कितने काल से निर्जरा करता चला आ रहा है। अनन्त काल से यह क्रम चल रहा है। प्रत्येक प्राणी निर्जरा करता है। कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जो शुद्धि नही करता। प्रत्येक प्राणी थोडी-बहुत शुद्धि तो करता ही है। जो साधना के मार्ग मे जाना चाहता है, उसके लिए अधिकतम शुद्धि का मार्ग है। साधना के क्षेत्र मे जाने वाले व्यक्ति के सामने शोधन और निरोध—दोनो दृष्टिया स्पष्ट होनी चाहिए। पहले शोधन को बलवान् बनाए। आहार की शुद्धि करे। इन्द्रियो पर जो मल जमा हुआ है, उसे हटाए। श्वास-प्रश्वास की शुद्धि करे। वचन-तत्र—स्वर-यत्र को शुद्ध बनाए। शरीर और मन को शुद्ध करे। इससे वृत्तिया शुद्ध बनेगी, निरोध की स्थिति प्राप्त होगी।

समानता का धरातल

पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् के तुलनात्मक अध्ययन से समानता का जो धरातल प्रस्तुत होता है, उसका कारण है—साख्य दर्शन का जैन दर्शन के अधिक निकट होना। साख्य, जैन और बौद्ध—तीनो श्रमण परपरा के दर्शन हैं। साख्य दर्शन प्राचीन है। बौद्ध दर्शन इतना प्राचीन नही है। तीनो दर्शन निवृत्तिवादी हैं। अन्तर यह है—जहा बौद्धो

मे आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति नही है, वहा साख्य और जैन दर्शन मे आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति है। इसीलिए साख्य और जैन दर्शन—दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने, जिन्होने शायद पूरी परपरा का अध्ययन नही किया, यह कल्पना की—जैन दर्शन साख्य दर्शन से निकला है। अतिनिकटता के कारण ऐसा भ्रम हो सकता है और ऐसा भ्रम हुआ भी है। साख्य दर्शन मे प्रकृति का जो कन्सेप्ट है, वह जैन दर्शन मे नही है, फिर भी दोनो दर्शनो मे बहुत निकटता है, यह कहने मे सकोच नही होता। इसलिए पातजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् मे सामीप्य का होना अस्वाभाविक नही है, किन्तु इनमे भेद नही है, यह भी नही कहा जा सकता।

संदर्भ आत्मा का

साख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, सर्वथा शुद्ध मानता है। उसकी साधना पद्धति मे आत्मा इसी रूप मे स्वीकृत है। मनोनुशासनम् मे आत्मा को भी परिणामीनित्य मानकर विचार किया गया है। आत्मा मे भी पर्याय का परिणमन होता है। जैन दर्शन की दृष्टि से कोई भी द्रव्य ऐसा नही है, जिसमे परिणमन न हो। साख्य दर्शन के अनुसार आत्मा अविकारी है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा वैसा नही है। जैन दर्शन के अनुसार कषाय आत्मा भी है, योग आत्मा भी है। जहा कषाय आत्मा और योग आत्मा है वहा आत्मा के साथ मन भी लगा हुआ है। जैन दर्शन की प्रक्रिया मे स्थूल शरीर के बाद तैजस शरीर, तैजस शरीर के बाद कर्म शरीर, कर्म शरीर के बाद कषाय और उसके बाद चैतन्य है। चैतन्य के साथ कर्म परमाणु इतने जुडे हुए हैं कि एक आत्मा के प्रदेश पर अनत अनत कर्म परमाणुओ के स्कन्ध चिपके हुए हैं। जैसे दूध और पानी मिल जाता है वैसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की बनी हुई है। जैन दर्शन मे साधना की प्रक्रिया केवल शरीर-शोधन की प्रक्रिया नही है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया भी है। मुख्य है आत्मा। साधना का सारा चिन्तन इसी आधार पर विकसित हुआ है।

संदर्भ अनुप्रेक्षा का

हम विकास की दृष्टि से देखें। मैत्री, प्रमोद, करुणा और

मध्यस्थता—ये सारी ध्यान की निष्पत्तिया हैं। जो व्यक्ति ध्यान करता है, अध्यात्म की साधना करता है, उसमे इन चारो भावनाओ का विकास होना चाहिए। जिस साधना से ये भावनाए नही जागती, वह कोरी प्राण की साधना है। प्राणिक साधना में सिद्धियां होगी, चमत्कार होगे, किन्तु आध्यात्मिक साधना की जो निष्पत्तिया हैं, वे भाव-विशुद्धि से जुडी होती हैं—अगाध मैत्री का विकास, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता का विकास। ऐसी प्रमोद भावना जागती है, जिससे गुण-ग्रहण की भावना प्रबल बनती है। दूसरो का विकास व्यक्ति को प्रमोद और हर्ष से भर देता है। उसके मन मे कभी ईर्ष्या पैदा नही होती। जैन दृष्टि से मनोनुशासनम् में भावनाओ का विकास मिलता है। सोलह भावनाओं मे से चार भावनाए पातजल योगदर्शन मे उपलब्ध हैं। साधना की दृष्टि से अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओ का बहुत महत्त्व है। साधना की दृष्टि से यह एक बहुत बडा विकास है।

मैत्री साधना नही, साधना की निष्पत्ति है। करुणा और प्रमोद, साधना नही, साधना की निष्पत्तिया हैं। बारह अनुप्रेक्षाओ का अभ्यास ही साधना है। महावीर ने दीक्षित होने से पहले गृहस्थ जीवन मे छह मास तक अनुप्रेक्षाओ का अभ्यास किया था। अनित्य अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होगा तो मैत्री भावना का विकास होगा। मैत्री भावना का विकास इतना आसान नही है। प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का भाव इतना प्रबल है कि मैत्री की बात सोचना भी कठिन है। मैत्री और प्रमोदभाव का विकास कोई खिलौना नही है, जिसे जब चाहे बाजार से खरीदा जा सके। आदमी की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी हुई है कि वह हर कार्य मे बुराई देखता है, कठिनाइया पैदा करना पसन्द करता है।

महान् आदमी का कार्य

एक बार सूरज के मन में विकल्प उठा—मैं दुनिया का कितना उपकार करता हूं। मैं प्रकाश देता हू, सोए लोगो को जगाता हू। मेरे उदित होते ही चोरी-डकैती सब बन्द हो जाती हैं। सारे लोग अपने काम-धन्धे मे लग जाते हैं। मेरा अस्तित्व है तो सारी दुनिया है। मैं न रहू तो दुनिया कुछ भी न रहे। मुझे जानना चाहिए—दुनिया मेरे बारे मे क्या सोचती है?

सूरज ने अपनी पत्नी से कहा–चलो, मनुष्य लोक मे चले। हम देखेंगे–लोगो के मन मे हमारे प्रति क्या धारणा है? जनता हमारे बारे में क्या सोचती है? दोनो वेष बदलकर धरती पर आए। दोनो बाजार में गए। वहा बहुत सारे लोग बैठे हुए थे। सूरज बोला–देखो! सूरज कितना अच्छा है। कितना प्रकाश दे रहा है।

एक आदमी बोला–क्या प्रकाश दे रहा है? इस भयकर गर्मी में सारा शरीर झुलस रहा है। हम तो चाहते हैं–सूरज चला जाए, आकाश मे बादल छा जाए, बरसात आए।

सूरज कुछ आगे बढा, दूसरे मौहल्ले में पहुचा। अपना वही प्रश्न लोगो के सामने रखा। लोग बोले–सूरज बडा धोखेबाज है। अगर कोरी रात होती, अधेरा होता तो धोखा नही होता। सूरज जब छिप जाता है, समस्या पैदा कर देता है। या तो प्रकाश करना नही चाहिए और प्रकाश दे तो फिर निरन्तर देना चाहिए।

सूरज ने शहर के अनेक भागो मे अपने बारे मे होने वाली प्रतिक्रियाओ को सुना। बहुत कम लोग ऐसे मिले, जो सूरज की प्रशसा कर रहे थे। चारों तरफ अपने बारे में होने वाली नुक्ता-चीनी से सूरज परेशान हो उठा। वह खिन्न स्वर मे बोला–इन लोगो का भला करना काम का ही नही है। अब हम उगना ही बद कर देगे। कल से आएगे ही नही इस लोक मे। कही एकान्त गुफा मे जाकर बैठ जाएगे।

सूरज की पत्नी ने कहा–महाराज! आप जैसे यशस्वी-प्रतापी राजा को ऐसा चिन्तन शोभा नही देता। क्या आप नही जानते–क्षुद्र आदमी का काम है ढेला फेकना और महान् आदमी का काम है उसे झेलना। महान् आदमी क्षुद्र व्यक्तियो के व्यवहार से क्षुब्ध होकर कभी अपना काम बद नही करते।

योग . नई दिशा

यह ढेला फेकने की बात दुनिया मे चलती रहती है। जब तक अनुप्रेक्षाओं का दृढ अभ्यास न हो जाए तब तक क्षुद्रता की मनोवृत्ति को मिटाया नही जा सकता। अनित्य, एकत्व और अन्यत्व–ये तीन अनुप्रेक्षाए अध्यात्म जागरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनके

बिना अध्यात्म की बात, मैत्री उत्पन्न करने की बात सोची नही जा सकती। अनुप्रेक्षाओ का यह विकास, जैन दर्शन की साधना पद्धति मे हुआ है, पातजल योगदर्शन मे नही हुआ है। ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो मनोनुशासनम् और पातंजल योगदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की आधार-भूमि बन सकते हैं। अपेक्षा है इन दोनो ग्रन्थो के गहन अनुशीलन की। यदि हमारा अध्ययन इस दिशा मे आगे बढ़े तो प्राचीन और अर्वाचीन योग को एक नई दिशा उपलब्ध हो सकती है।

नझनो मे मत जाओ।
न्त होना है। तुम दु ख
परलोक है या नही?
किसी व्यक्ति को तीर
ी सार-सभाल और
झन मे फस जाएगा।
नलब है? जो करना
स जाएगा।

ऱ्सो। तुम इन चार

को समाप्त किया
नर्वाण है। इतना

नेपादन किया।
धनामार्ग है —
गर्ग है। इसके
। हमारे लिए
दु ख-मुक्ति
की दृष्टि को
ं दृष्टि कहा
न प्रतिकार
ामुक्ति का

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

से ढाई हजार वर्ष [illegible]
द, सूरज और सितारे [illegible]
र्णतया घटित हो रहे थे [illegible]
थापनाएं सामने आ रही थीं [illegible]
थीं। उस वातावरण में [illegible]
र दूसरे थे बुद्ध। [illegible]
वाकुवंश में जन्मे और बुद्ध [illegible]
त हुए और बुद्ध [illegible]
नों महावीर ने श्रमण [illegible]
बुद्ध ने श्रमण परम्परा में बौद्ध [illegible]
समीक्षा करें तो [illegible]
पार्श्व की परम्परा का [illegible]

पार्श्व का प्रभाव

भगवान् पार्श्व [illegible]
बुद्ध का सीधा संबंध [illegible]
शब्दावली को अपनाया, [illegible]
शब्दावलियां और [illegible]
थीं। उसमें ऐसा स्पष्ट होता है—[illegible]
निकटता थी, पार्श्व और [illegible]
इसीलिए महावीर और बुद्ध के [illegible]
मवर, निर्वाण आदि-आदि [illegible]
और बौद्ध—दोनों धर्मों में [illegible]
पश्चिमी विद्वानों को यह भ्रम भी [illegible]
है। यह बौद्ध धर्म की ही शाखा है। [illegible]

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

आज से ढाई हजार वर्ष पहले का भारतवर्ष। यही भूमि, यही आकाश, यही चाद, सूरज और सितारे। इस धरती पर कुछ परिवर्तन हो रहा था। कुछ क्रांतिया घटित हो रही थी। विचारो का उद्वेलन हो रहा था। कुछ नई स्थापनाए सामने आ रही थी और कुछ पुरानी स्थापनाए समाप्त हो रही थी। उस वातावरण मे दो महापुरुषो ने जन्म लिया। एक थे महावीर और दूसरे थे बुद्ध। दोनो ने क्षत्रिय राजकुल मे जन्म लिया। महावीर इक्ष्वाकुवश मे जन्मे और बुद्ध शाक्यवश मे। महावीर वैशाली गणतत्र मे पैदा हुए और बुद्ध शाक्य गणतत्र मे। दोनो ने गृह का त्याग किया, मुनि बने। महावीर ने श्रमण परपरा मे निर्ग्रंथ परपरा का उन्नयन किया और बुद्ध ने श्रमण परपरा मे बौद्ध परपरा को जन्म दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करे तो यह निष्कर्ष निकलेगा—महावीर और बुद्ध – दोनो ने पार्श्व की परपरा का अनुगमन किया।

पार्श्व का प्रभाव

भगवान् पार्श्व तेईसवे तीर्थकर थे। महावीर चौबीसवे तीर्थकर बने। बुद्ध का सीधा सबध पार्श्व की परपरा से नही जुडा किन्तु बुद्ध ने जिस शब्दावली को अपनाया, जिस परिभाषा को अपनाया, वे सारी की सारी शब्दावलिया और परिभाषाए पार्श्व की शब्दावलिया और परिभाषाए थी। उससे ऐसा स्पष्ट होता है—पार्श्व और बुद्ध की भाषा मे बहुत निकटता थी, पार्श्व और महावीर की भाषा मे बहुत निकटता थी। इसीलिए महावीर और बुद्ध की भाषा भी एक जैसी मिल जाती है। आश्रव, सवर, निर्वाण आदि-आदि जो साधना के शब्द हैं, परिभाषाए हैं, वे जैन और बौद्ध—दोनो धर्मो मे समान रूप से मिल जाती हैं। इसीलिए कुछ पश्चिमी विद्वानो को यह भ्रम भी हो गया—जैन धर्म बौद्ध धर्म से निकला है। यह बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। भ्रान्तिवश ऐसी स्थापना भी कर

कहा—इनके पचडे मे मत फसो, इन दार्शनिक उलझनों मे मत जाओ। तुम्हे करना क्या है? समाधि से जीना है, दु ख से मुक्त होना है। तुम दु ख से मुक्त होने की साधना करो। आत्मा है या नही? परलोक है या नही? इनसे तुम्हे क्या मिलेगा? बुद्ध ने इस भाषा मे कहा—किसी व्यक्ति को तीर लगा। तीर को निकालना है, घाव भरना है, उसकी सार-सभाल और चिकित्सा करनी है। यह सब नही क़रेगा तो वह उलझन मे फस जाएगा। तीर किससे बना? तीर किसने बनाया? इनसे क्या मतलब है? जो करना है, वह तो कही रह जाएगा और व्यक्ति उलझन मे फस जाएगा।

चार आर्यसत्य

बुद्ध ने कहा— तुम इन दार्शनिक उलझनों मे मत फंसो। तुम इन चार आर्य सत्यो की साधना करो—

१ दु ख
२ दु ख समुदय
३. दु.ख का निरोध
४ दु ख निरोधगामिनी प्रतिपत्ति।

ये चार आर्यसत्य हैं—दु ख है, दु ख के हेतु हैं। दु ख को समाप्त किया जा सकता है, दु ख को समाप्त करने वाली प्रतिपत्ति है, निर्वाण है। इतना जानना बहुत है। इससे ज्यादा जानना आवश्यक नही है।

महावीर और बुद्ध का दृष्टिकोण

महावीर ने पचास्तिकाय और नौ पदार्थ — दोनो का प्रतिपादन किया। बुद्ध का साधनामार्ग है—चार आर्यसत्य और महावीर का साधनामार्ग है — नौ पदार्थ। नौ पदार्थ मोक्ष का मार्ग है, दु ख-मुक्ति का मार्ग है। इसके साथ-साथ महावीर ने पचास्तिकाय का भी निरूपण किया। हमारे लिए जगत् को जानना भी जरूरी है। जगत् को जाने बिना केवल दु ख-मुक्ति की बात करेगे तो वह पूरी बात नही होगी। इसीलिए महावीर की दृष्टि को उभयस्पर्शी दृष्टि कहा गया। बुद्ध की दृष्टि को वर्तमानस्पर्शी दृष्टि कहा जा सकता है। बुद्ध का दृष्टिकोण रहा—वर्तमान दु खो का प्रतिकार करना। जो समस्या सामने आए, उसका समाधान खोजना, दु खमुक्ति का मार्ग खोजना और उसकी साधना करना। महावीर का मार्ग उभयस्पर्शी

दी गई। वस्तुत न जैन धर्म का उद्भव बौद्ध धर्म से हुआ है और न बौद्ध धर्म का उद्भव जैन धर्म से हुआ है। दोनो के पीछे जो पार्श्व की परपरा है, उस परपरा का प्रभाव–दोनो शाखाओ पर समान रूप से परिलक्षित होता है।

मध्यम मार्ग

भगवान् महावीर ने सारे दार्शनिक जगत् को देखा, दार्शनिक समस्याओ को देखा। समस्याओ का अनुशीलन कर महावीर ने विश्व को समझने के लिए, पदार्थ को समझने के लिए एक सिद्धान्त की स्थापना की और वह सिद्धान्त है अनेकान्तवाद। महावीर ने नित्य और अनित्य– दोनों अतिवादो को स्वीकार नही किया। एक अतिवाद है–एकान्त नित्यवाद का, कूटस्थ नित्यवाद का। एक अतिवाद है एकान्त अनित्यवाद का, क्षणिकवाद का। महावीर ने बीच का मार्ग चुना। मध्यम मार्ग है अनेकान्त। बुद्ध ने एकान्त अनित्यवाद का प्रतिपादन किया–जो अस्तित्व है, वह सब क्षणिक है। नित्य कुछ भी नही है। नित्य की सर्वथा अस्वीकृति और अनित्य की ऐकान्तिक स्वीकृति। महावीर का जो विचारपक्ष है, वह न नित्य की ओर झुकता है और न अनित्य की ओर झुकता है। उसका नाम है नित्यानित्यवाद। यह ठीक है कि एक प्रवाह अनित्यता का है किन्तु इसके साथ यह भी सही है–कोई भी अनित्यता ऐसी नही है, जिसके साथ नित्यता न हो। कोई भी उत्पाद और व्यय ऐसा नही है, जिसके मध्य मे ध्रुव तत्त्व न हो। कोई भी पर्याय ऐसा नही है, जिसके साथ अपर्याय और अपरिवर्तनशील घटक तत्त्व न हो। यह है नित्यानित्यवाद।

दार्शनिक प्रश्न : बुद्ध का चिन्तन

वह समय दार्शनिक चर्चाओ का समय था। वह उपनिषद् का काल था। दर्शन के सदर्भ में बहुत सारे प्रश्न पूछे जा रहे थे। उसी काल मे महावीर और बुद्ध आए। उनके सामने भी वे प्रश्न आए। क्या आत्मा है? क्या परलोक है? आदि आदि प्रश्न महावीर के सामने प्रस्तुत किए गए। महावीर ने इन सारे प्रश्नो का अनेकान्त की दृष्टि से समाधान दिया–आत्मा है भी और नही भी है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार भी किया, अस्वीकार भी किया। बुद्ध के सामने भी ये प्रश्न आए। बुद्ध ने

कोई ऐतिहासिक कठिनाई नही लगती—वैदिक परपरा मे सन्यास का स्वीकार श्रमण परपरा के प्रभाव से हुआ है। वैदिक परपरा मे गृहस्थ धर्म पर बहुत बल था। सारी स्मृतियो ने गृहस्थ धर्म का बहुत महत्त्व बतलाया। गृहस्थ मे रहने को सबसे ज्यादा उत्तम कहा गया। यह प्रसिद्ध वाक्य रहा—गृहस्थाश्रम जैसा धर्म न हुआ है और न होगा। कही साधु बनने की बात आती तो कहा जाता – तुम क्या कर रहे हो? गृहस्थाश्रम को छोडकर सन्यास आश्रम मे भाग रहे हो? यह पलायनवाद है। आज सन्यास को पलायनवाद कहा जा रहा है, यह कोई नया तर्क नही है, बहुत पुराना तर्क है, हजारो वर्ष पुराना तर्क है। साधु बनना पलायन करना है। घर मे रहते हुए साधना करना काफी है। उस समय जो कर्मकाण्ड चल रहे थे, यज्ञ आदि चल रहे थे, उसमे सन्यास की कोई जरूरत ही नही थी। यज्ञ आदि के द्वारा देवताओ को प्रसन्न करना, इष्ट की साधना करना, यह गृहस्थ के लिए भी प्राप्त था। सन्यास की अलग से कोई आवश्यकता नही लगती थी। उस अवस्था मे महावीर ने कर्मकाण्ड का विरोध किया, बुद्ध ने भी कर्मकाण्ड का विरोध किया।

एक भ्रांति

इस सदर्भ मे एक बहुत बडी भ्रान्ति पनपी। उस भ्रांति को जैन लोग भी यदा-कदा दोहरा देते हैं। वह भ्रान्ति यह है—कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि का विरोध करने के लिए जैन धर्म का उद्‌भव हुआ। यह जो बात कही जाती है, वह सर्वथा गलत है। यदि इतनी छोटी बात के लिए जैन धर्म का उद्‌भव माने तो जैन धर्म बहुत छोटा पड जाए। यह सचाई है—जैन धर्म ने कर्मकाण्डो का विरोध किया, यज्ञ का विरोध किया किन्तु इनका विरोध करने के लिए जैन धर्म बना, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण और गलत है। महावीर ने जेन धर्म का जो विकास किया, वह अहिसा, अपरिग्रह ओर अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण के विकास के लिए किया। एक परपरा पहले से चली आ रही थी। महावीर ने उसमे अपनी ओर से बहुत सारी नई बाते जोड दी। उन नई स्थापनाओ मे विचार के पक्ष मे अनेकान्त का दर्शन स्थापित किया। विचार के क्षेत्र मे यह आज भी एक महत्त्वपूर्ण दर्शन बना हुआ है, जिसमे किसी बात को अस्वीकार नही किया जा सकता और किसी

मार्ग है, दु खमुक्ति करना है तो भीतर भी जाना है, दु ख के मूल को भी जानना है। महावीर का प्रसिद्ध सूत्र है—अग्र को समाप्त करना है और मूल को भी समाप्त करना है। केवल पत्तो और फूलो को समाप्त करने से काम नही चलेगा। जब तक हम जड की बात को नही समझेगें, मूल बात समझ मे नही आएगी। पतझड आएगा तो पत्ते झड जाएगे। फिर बसत आयेगा तो पत्ते पुन आ जाएगे। पत्ते आने और झडने का क्रम चलता रहेगा। जब तक दु ख के मूल कारणो को नही मिटाएगे, तब तक दु खमुक्ति की बात प्राप्त नही होगी।

दु.खवादी धारा

भगवान् महावीर ने अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद—दोनों का प्रतिपादन किया। उन्होने आत्मा को स्वीकार किया, आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन मे यह सबसे बडा अतर है। जहा बुद्ध के दर्शन को अनात्मवाद, अनित्यवाद और दु खात्मक—इस भाषा मे निरूपित किया जा सकता है वहा महावीर के दर्शन को आत्मवाद, न्त्यिानित्यवाद और दु खात्मक—इस भाषा मे निरूपित किया जा सकता है। उस समय दो धाराए प्रचलित थी—दु.खवादी धारा और सुखवादी धारा। श्रमण परपरा मे दु खवाद को सामने रखा गया। महावीर ने कहा—जन्म दु ख है, बुढापा दु ख है, रोग दु ख है, मृत्यु दुःख है। यह ससार दु ख-बहुल है।

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगाय मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो, कीसंति जतवो बहु।।

बुद्ध ने भी इन चारो दु खो को स्वीकार किया। इस सदर्भ मे बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनो समान हैं।

दु खमुक्ति का मार्ग

दु ख की समाप्ति के लिए जिस मार्ग को चुना, वह है सन्यास का मार्ग। उस समय यह एक बडा प्रश्न था—सन्यास को स्वीकार करना चाहिए या नही? वैदिक परपरा मे सन्यास का स्थान बहुत कम था। पहले तो था ही नही। तीन आश्रम ही मान्य थे, सन्यास आश्रम की मान्यता नही थी। सन्यास की मान्यता बहुत बाद मे जुडी है और यह स्वीकार करने मे भी

और अंगूठा—दोनो मिलेगे तब वह पात्र उठ पाएगा। हमें कुछ लिखना है। क्या हम केवल अगुली से लिख पाएगे? क्या हम केवल अगूठे से लेखनी पकड पाएगे? लेखनी को हम तब पकड पाएगे जब अगुली और अगूठा — दोनो का योग होगा। अगुली के प्रतिपक्ष मे है अगूठा। अनेकात का नियम है—विरोधी को साथ मे लिए बिना हम काम नही कर सकते। विरोधी को साथ मे लेकर ही हम कोई काम कर पाएगें। यदि अगूठा अगुली की दिशा मे ही होता तो आदमी बदर जैसा ही होता, कोई काम का नही होता। एक ओर चार अगुलिया हैं और प्रतिपक्ष मे अगूठा है तो हमारा सारा विकास हो रहा है।

अविरोध है विरोध में

अनेकान्तवाद का ध्रुव सिद्धान्त है—पक्ष है तो प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। अन्यथा हम काम नही कर पाएगे। विरोधी होने का मतलब दुश्मन होना नही है। महावीर ने अनेकान्त के साथ-साथ अहिसा का प्रतिपादन किया। यदि महावीर अनेकान्त का प्रतिपादन करते और अहिसा का प्रतिपादन नही करते तो अनेकान्त भी भ्रान्त हो जाता। अनेकान्त का हार्द है—सब विरोधी धर्म हैं, विरोधी युगल हैं, कोई भी अविरोधी नही है, एक दूसरे का विरोधी मिलकर काम करता है। पोजिटिव और नेगेटिव चार्ज मिलता है तो प्रकाश होता है। विना विरोधी मिले कुछ होता नही है, यह बात बिल्कुल विपम लगती है। हम प्रत्येक विरोधी पर सदेह करते हैं—यह भी मेरा विरोधी है, यह भी मेरा विरोधी है—इस चिन्तन से सबको विरोधी मान लेते हैं तो काम ही नही चल पाएगा। महावीर ने इस समस्या के सदर्भ बहुत सुन्दर मार्गदर्शन दिया। उन्होने कहा—विरोध का अर्थ शत्रुता नही है। प्रत्येक विरोध के बीच मे एक अविरोध छिपा हुआ है। केवल विरोध ही नही है। विरोध और अविरोध—दोनो के समन्वय का नाम है अनेकान्त।

साधना · मध्यम मार्ग

हमे यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि आचार के पक्ष मे बुद्ध ने दोनो अतिवादो का विरोध किया। न कोरा ज्ञानवाद और न कोरा तपवाद। न केवल कष्ट सहना और न बहुत आराम या सुविधावाद को

बात को सर्वथा स्वीकार नही किया जा सकता। इसका अर्थ है दुनिया का प्रत्येक विचार सापेक्षदृष्टि से मान्य है और निरपेक्षदृष्टि से अमान्य है। सापेक्ष विचारो का समवाय दृष्टिकोण जो महावीर ने दिया, वह एक नई और मौलिक प्रस्थापना है। इस स्थापना ने दार्शनिक उलझनो को सुलझाने मे बहुत बडा योगदान दिया है।

सापेक्ष है प्रत्येक विचार

आज भी हमारे लिए अनेकान्तदृष्टि उपलब्ध है। हम प्रत्येक दर्शन को पढ़े, विज्ञान की शाखाओ को पढे, सापेक्षदृष्टि से, नयदृष्टि से पढ़े और यह मानें कि प्रत्येक सिद्धान्त और विचार सापेक्ष है, एक नय है।

डार्विन का जो विकासवाद का विचार है, वह एक नय है। फ्रायड का जो मनोविश्लेषणवाद है, वह भी एक नय है। मार्क्स का आर्थिकविश्लेषणवाद—साम्यवाद भी एक नय है। इन तीन व्यक्तियो ने वर्तमान की विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है। मार्क्स, फ्रायड और डार्विन वर्तमान की वैचारिक एव वैज्ञानिक पीढ़ी को प्रभावित करने वाले तीन महान् व्यक्तितत्व हुए हैं। अनेकान्तदृष्टि से देखे तो इन तीनो के विचार तीन नय हैं। हम इन्हे अस्वीकार नही करेगे, इनका सर्वथा खण्डन नही करेगे किन्तु इनको एक नय मानेगे, पूरी बात नही मानेगे। जैन दर्शन का यह अभिमत रहा—किसी भी एक विचार को पूरा मत मानो, शत-प्रतिशत मत मानो। अमुक विचार ठीक है, यह कह सकते हैं पर यह मत कहो—यह विचार पूर्णत ठीक है। हमारी पूरी बात मिलकर बनती है। दुनिया मे पूरी कोई बात होती ही नही है। दुनिया का नियम ही है सापेक्षता। पूरा कुछ नही है दुनिया मे। चाहे आत्मा हो, परमात्मा हो, निर्वाण हो या और कुछ। सबका अपना-अपना अवकाश, अपनी अपनी सीमा और अपनी अपनी मर्यादा है।

अनेकान्त का नियम

हाथ का एक भाग है अगुली। अगुली पूरा हाथ नही है। अगूठा हाथ का एक अग है पर वह हाथ नही है। यदि अगूठा और अगुली न हो तो हाथ का क्या उपयोग होगा? हमे किसी गिलास या पात्र को उठाना है। क्या अगुली से वह पात्र उठ जाएगा? क्या अगूठे से वह पात्र उठ पाएगा? जब अगुली

और अगूठा—दोनो मिलेगे तब वह पात्र उठ पाएगा। हमे कुछ लिखना है। क्या हम केवल अगुली से लिख पाएगे? क्या हम केवल अगूठे से लेखनी पकड पाएगे? लेखनी को हम तब पकड पाएगे जब अगुली और अगूठा — दोनो का योग होगा। अगुली के प्रतिपक्ष मे है अगूठा। अनेकात का नियम है—विरोधी को साथ मे लिए विना हम काम नही कर सकते। विरोधी को साथ मे लेकर ही हम कोई काम कर पाएगें। यदि अगूठा अगुली की दिशा मे ही होता तो आदमी बदर जैसा ही होता, कोई काम का नही होता। एक ओर चार अगुलिया हैं और प्रतिपक्ष मे अगूठा है तो हमारा सारा विकास हो रहा है।

अविरोध है विरोध में

अनेकान्तवाद का ध्रुव सिद्धान्त है—पक्ष है तो प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। अन्यथा हम काम नही कर पाएगे। विरोधी होने का मतलब दुश्मन होना नही है। महावीर ने अनेकान्त के साथ-साथ अहिसा का प्रतिपादन किया। यदि महावीर अनेकान्त का प्रतिपादन करते और अहिसा का प्रतिपादन नही करते तो अनेकान्त भी भ्रान्त हो जाता। अनेकान्त का हार्द है—सव विरोधी धर्म हैं, विरोधी युगल हैं, कोई भी अविरोधी नही है, एक दूसरे का विरोधी,मिलकर काम करता है। पोजिटिव और नेगेटिव चार्ज मिलता है तो प्रकाश होता है। विना विरोधी मिले कुछ होता नही है, यह वात विल्कुल विपम लगती है। हम प्रत्येक विरोधी पर सदेह करते हैं—यह भी मेरा विरोधी है, यह भी मेरा विरोधी है—इस चिन्तन से सवको विरोधी मान लेते हैं तो काम ही नही चल पाएगा। महावीर ने इस समस्या के सदर्भ वहुत सुन्दर मार्गदर्शन दिया। उन्होने कहा—विरोध का अर्थ शत्रुता नही है। प्रत्येक विरोध के वीच मे एक अविरोध छिपा हुआ है। केवल विरोध ही नही है। विरोध और अविरोध—दोनो के समन्वय का नाम है अनेकान्त।

साधना मध्यम मार्ग

हमे यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि आचार के पक्ष मे वुद्ध ने दोनो अतिवादो का विरोध किया। न कोरा ज्ञानवाद और न कोरा तपवाद। न केवल कप्ट सहना और न वहुत आराम या सुविधावाद को

स्वीकार करना। दोनो के बीच का मार्ग बताया—मध्यम मार्ग। किन्तु साथ-साथ यह कहने मे भी सकोच नही होता—दर्शन के क्षेत्र मे मध्यम प्रतिपदा की वात नही रही। वहा ऐकान्तिक अनित्यवाद को स्वीकार किया। वुद्ध ने आचार के क्षेत्र मे बहुत काम किया किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे बौद्ध धर्म का अवदान वहुत बडा नही माना जा सकता। वुद्ध के वाद उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने दर्शन के क्षेत्र मे बहुत बडा काम किया है। धर्मकीर्ति, नागार्जुन, वसुबधु आदि बौद्ध धर्म के महान् आचार्यो ने दर्शन और तर्क के क्षेत्र मे कुछ कीर्तिमान स्थापित किए हैं किन्तु बुद्ध के समय मे दर्शन का बहुत विकास नही हुआ।

बुद्ध की देन

वुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का वहुत विकास किया। आचार के क्षेत्र मे चार आर्यसत्य, चार ब्रह्म विहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये वास्तव मे बुद्ध की ही देन हैं। पचशील का विकास वुद्ध ने किया है। जैन धर्म के पचव्रत और वुद्ध के पचशील—दोनो मे बहुत बडा अतर है। जहा महावीर ने पाच व्रतो मे अपरिग्रह को स्थान दिया वहा वुद्ध ने अपरिग्रह का स्पर्श ही नही किया। बुद्ध ने मद्यपान का निषेध किया। अहिसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप मे स्वीकार किया किन्तु अपरिग्रह को व्रत माना ही नही।

महावीर का अपरिग्रहवाद

हवाई विश्व विद्यालय मे एक सगोष्ठी का आयोजन था। उसमे विश्व भर के सैंकडो बौद्ध भिक्षु एकत्रित थे। उस सगोष्ठी मे आचार्यश्री के प्रतिनिधि भी विशेष रूप से आमंत्रित थे। सगोष्ठी के मध्य एक बौद्ध भिक्षु ने प्रश्न रखा—वुद्ध ने अपरिग्रह के विषय मे क्या लिखा है? बौद्ध विद्वानो ने कहा—इस विषय मे हमे कोई जानकारी नही है। एक बौद्ध भिक्षु बोले—सौभाग्य से हमारे बीच जैनो का एक प्रतिनिधि मडल उपस्थित है। उनसे यह पूछा जाए—महावीर ने अपरिग्रह के बारे मे क्या कहा है? तेरापथ प्रवक्ता श्री मोतीलाल एच रांका ने दस मिनट तक अपरिग्रहवाद का विभिन्न पहलुओ मे विश्लेषण प्रस्तुत किया। जैन धर्म मे अपरिग्रहवाद की जो विशद विवेचना है, उसे सुन बौद्ध विद्वान् अत्यन्त

प्रभावित हुए। जापान के समागत बौद्ध विद्वानो ने हमारे प्रतिनिधियो को जापान यात्रा का निमत्रण दिया और इस विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान देने का अनुरोध किया। केवल निमत्रण ही नही दिया, प्रतिनिधि मडल की यात्रा की सारी व्यवस्थाए जुटा दी।

आचार का क्षेत्र : नई दिशा का उद्‌घाटन

भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद का सूत्र प्रस्तुत कर आचार के क्षेत्र मे एक नई दिशा का उद्‌घाटन किया। वैचारिक इतिहास की दृष्टि से यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है—अपरिग्रह के बारे में जितना विश्लेषण जैन आगमों मे मिलता है शायद भारतीय साहित्य मे कही भी प्राप्त नही है। ऐसा लगता है—अहिसा और अपरिग्रह—इन दोनो पर जैनो का एकछत्र साम्राज्य है। इसका अर्थ यह नही है कि दूसरे धर्मों ने इन पर विचार नही किया। दूसरे धर्मों ने इन पर विचार किया है किन्तु बहुत विवाद नही है। महावीर ने जितने विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन किया है जितनी गहराई में जाकर इस विषय को प्रस्तुत किया है, उस गहराई तक पहुचने वाले व्यक्ति विरल हैं। यदि अपरिग्रहवाद का सम्यक् मूल्याकन किया जाए तो वर्तमान की अनेक समस्याओ को समाधान मिल जाए। वर्तमान समस्याओ के सदर्भ मे महावीर के ये तीन सिद्धान्त—अहिसा, अपरिग्रह और अनेकांत बहुत प्रासंगिक बन गए हैं। इनकी प्रासंगिकता के साथ जैन धर्म भी प्रासंगिक बन जाता है।

काका कालेलकर की वेदना

आचार्यवर का हिसार मे चातुर्मास था। अचानक एक दिन काका कालेलकर दिल्ली से हिसार आए। अचार्यवर ने कहा—काका साहब! इस गर्मी मे आप अचानक कैसे आए? काका कालेलकर बोले—आचार्यजी! क्या करू? मन में बडी पीडा है, वेदना है, मुझसे रहा नहीं गया, इसलिए मैं अपने मन की पीडा आपको सुनाने आया हू। आचार्य श्री ने सोचा—काका साहब इतने प्रतिष्ठित आदमी हैं, भारत सरकार भी इनका सम्मान करती है। इनके मन मे क्या पीडा हो सकती है? आचार्यश्री ने कहा—काका साहब! आपके मन में क्या पीडा है? काका कालेलकर बोले— आचार्यजी! आज जैनो को हो क्या गया है? जिस धर्म के पास अनेकान्त जैसा सिद्धान्त

है और जिस सिद्धान्त की आज सारे ससार को जरूरत है, उस सिद्धान्त को मानने वाले सोए हुए हैं। वे धर्म, जिनमे कोई क्षमता नही है, अपने धर्म को विश्व-धर्म बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और जिस धर्म मे विश्व-धर्म बनने की क्षमता है, उस धर्म के लोग अकर्मण्य बने हुए हैं, कोई प्रयत्न नही कर रहे हैं। जिस धर्म के पास अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सिद्धान्त हैं, उस धर्म को फैलाने का कोई प्रयत्न नही है—इस बात से मुझे इतनी वेदना एव पीडा हुई कि रहा नही गया और आपको अपनी यह व्यथा सुनाने आ गया।

युगीन परिप्रेक्ष्य मे

वस्तुत जैन धर्म ने ऐसे सिद्धान्त दिए हैं, जो आज के युग के लिए जरूरी हैं। इस परमाणु और वैज्ञानिक युग मे, शस्त्रीकरण, हिसा और आतक के युग मे, आर्थिक विषमता और वैचारिक खीचातानी के युग में, इन सिद्धान्तो का मूल्य बहुत बढ गया है। हम जैन धर्म को समझें, साथ-साथ बौद्ध धर्म को समझे। दोनो भाई-भाई हैं और एक ही परम्परा की दो धाराए हैं। दोनो दर्शनो के अध्ययन के बाद कोई ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करे, जिसके द्वारा वर्तमान समस्याओ को समाधान की दिशा मिल सके। केवल तुलनात्मक अध्ययन ही न करे, अध्ययन के पश्चात् वर्तमान समस्याओ के समाधान मे योग देने की स्थिति मे आए तो तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी होगा, वर्तमान युग मे एक नए सिद्धान्त और नई स्थापना का अवसर मिल सकेगा।

जैन धर्म और वैदिक धर्म

पाच आदमी बैठे हैं। एक हिन्दू है, एक मुसलमान है, एक ईसाई है, एक सिख है और एक जैन है। कुछ बाहरी लक्षणो के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है – अमुक व्यक्ति हिन्दू है, अमुक व्यक्ति मुसलमान, ईसाई या सिख है। किसी व्यक्ति के चोटी है तो वह हिन्दू है। किसी व्यक्ति के दाढ़ी है और मूछ नही है तो वह मुसलमान है। ये सब बाहरी लक्षण हैं। इनमे फर्क हो सकता है किन्तु मनुष्य की मूल प्रकृति में कोई अन्तर नही है।

भेद कहा है?

प्रत्येक व्यक्ति के दो आखे हैं, दो कान हैं, दो पैर और दो हाथ हैं। सबके पास फेफड़ा और हृदय है। सब व्यक्तियों की शारीरिक सरचना एक जैसी है, चाहे वे किसी भी जाति या सप्रदाय से बधे हुए क्यो न हो। यदि ऐसा होता – हिन्दू का हृदय अलग होता और मुसलमान का हृदय अलग तो भेद की बात समझ में आ जाती। ऐसा नही है कि हिन्दू का हृदय दाईं ओर है तो मुसलमान का हृदय बाईं ओर है। हिन्दू का लीवर बाईं ओर है तो मुसलमान का दाईं ओर। प्रकृति ने ऐसी कोई भेदरेखा नही खीची है। यदि ऐसी कोई भेदरेखा होती तो भेद की बात सहज ग्राह्य बन जाती। ऐसा लगता है – प्रकृति के जगत् मे कोई भेद नही है। भेद पैदा किया है जाति और सप्रदाय मे बधी मानसिकता ने। कुछ विचारो ने भेदो की सृष्टि अवश्य की है और इसी कारण अनेक धर्म-सम्प्रदाय अस्तित्व मे आए हैं।

धर्म की दो शाखाए

भारतीय धर्म-दर्शन की दो शाखाए हैं – जैन धर्म और वैदिक धर्म। इन दोनो को सामान्य दृष्टि से देखे तो कोई भेद पकड मे नही आता। यदि दोनो की आचार-संहिता को देखे तो भेद की बात दिखाई नही

देगी। जैन धर्म कहता है – बुराइयो को छोडो, अच्छाइयों को स्वीकार करो। वैदिक धर्म भी यही कहता है। यदि कोई धर्म यह कहता--अच्छाइयों को छोडो, बुराइयो को अपनाओ तो भेद की बात समझ मे आती। बौद्ध धर्म हो, ईसाई या इस्लाम धर्म हो – सब यही कहते हैं – अच्छे आदमी बनो, अच्छाइयो को आत्मसात् करो, सबके प्रति प्रेम करो, किसी को मत सताओ। जहा ये सब सामान्य स्वर मिलते हैं वहा सामान्य मे खोए हुए असामान्य को खोजना बडा कठिन हो जाता है।

समान है आचार-संहिता

यह स्पष्ट है – जहा तक धर्म का प्रश्न है, आचार-संहिता का प्रश्न है वहां समान तत्त्व ज्यादा हैं। प्राय. सभी धर्मों ने अहिसा की बात कही, सत्य पर बल दिया। मानवीय मूल्य, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य– इन सवके विकास की बात प्रत्येक धर्म ने कही है। अन्तर हो सकता है मात्रा या सीमा का। किसी की सीमा छोटी है और किसी की व्यापक है। किसी धर्म ने कहा – बुराई मत करो। एक सीमा बन गई। किसी ने इस सीमा को विस्तार दे दिया – बुराई करो मत, कराओ मत और उसका अनुमोदन भी मत करो। मनुस्मृति ने सीमा को और विस्तार दे दिया – हिंसा करो मत, कराओ मत, उसका अनुमोदन भी मत करो। इतना ही नही, हिंसा से बनी हुई चीज को खाओ भी मत। हिंसा से बनी चीज खाना भी हिंसा है। यह सीमा का विस्तार है।

अपरिग्रह का संदर्भ

अपरिग्रह के सदर्भ मे कहा गया – परिग्रह करो मत, परिग्रह रखो मत, रखाओ मत। उसका अनुमोदन भी मत करो। एक गृहस्थ के लिए कहा गया – ज्यादा सग्रह मत करो। प्रश्न हुआ – सग्रह कितना करे? भागवतकार ने लिखा – जितना एक दिन के लिए जरूरी है, उतना सग्रह करो। शायद यह वात किसी को अच्छी नही लगेगी। आदमी सोचता है – सात पीढी तक काम आए, इतना सग्रह कर लू। यह सामान्य भारतीय व्यक्ति की चिन्ता होती है। इतना धन कमाऊ, जिससे सात पीढ़ी सुख से जी सके। एक ओर सात पीढ़ी की चिन्ता है, दूसरी

ओर भागवत का कथन है — जितने से पेट भरे, उतने पर तुम्हारा अधिकार है। इससे अधिक का जो सग्रह करता है, वह चोर है। उसे दण्ड देना चाहिए।

यावद् भ्रियेत जठर, तावद् युक्त हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति।।

आधारभूत व्रत

परिग्रह के सदर्भ में यह एक सीमाकरण है। यदि यह सीमा की बात हो तो अमीर-गरीब की भेद-रेखा ही न रहे, समाजवाद-साम्यवाद की आवश्यकता ही न रहे। प्रत्येक धर्म ने अहिसा के बारे में सोचा है, अपरिग्रह के बारे मे सोचा है, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के बारे में सोचा है। भारतीय धर्मों की यह एक सामान्य आचार-संहिता बन गई। पाच व्रत या महाव्रत — अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये सामान्य व्रत रहे हैं। महात्मा गाधी ने ग्यारह व्रत बना दिए। किसी ने नौ व्रत का विधान किया। किन्तु ये पाच व्रत आधारभूत व्रत रहे हैं। इस सारे परिप्रेक्ष्य में भेद की बात अस्वाभाविक-सी लगती है। आरोपण जैसा लगता है भेद।

आरोपण भेद का

एक भारी भरकम और मोटा-ताजा आदमी हाथी पर चढ़कर जा रहा था। काफी लोग इकट्ठे हो गए। चारों तरफ हसी के फव्वारे छूटने लगे। हाथी पर बैठा आदमी बोला — भाई ! क्या बात है? आप हस क्यों रहे हैं? क्या आपने कभी हाथी को देखा नही? लोग बोले — हमने हाथी तो देखा है, पर हाथी पर चढ़ा हुआ हाथी कभी नही देखा।

भेद का आरोपण करना हाथी पर हाथी चढ़ाने जैसा है। धर्म एक हाथी है। भेद का आरोपण करना उस पर एक और हाथी चढ़ाना है।

धर्म अनेक क्यों?

हम आरोपण की भाषा मे नही, यथार्थ की भाषा में सोचें। जहां मानवीय मूल्यों का प्रश्न है, वहा भेद को खोजना बहुत कठिन काम है। प्रश्न यह है — अगर भेद नही है तो जैन धर्म अलग क्यों है? वैदिक धर्म

अलग क्यो है? बौद्ध धर्म अलग क्यो है? अमुक धर्म अमुक धर्म से अलग क्यो है? इस प्रश्न का समाधान अभेद की नही, भेद की मीमासा से निकलता है। अभेद को समझना जितना आवश्यक है उतना ही भेद को समझना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से, सतही तौर पर सब धर्म एक जैसे दिखाई देते हैं। सूक्ष्म मनीषा के द्वारा, एक वैचारिक मनीषा के द्वारा ही भेद को पकडा जा सकता है।

प्रमाण शास्त्र है या पुरुष?

भेद की दिशा मे जाए तो सबसे पहले नाम पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। एक का नाम है वैदिक धर्म और एक का नाम है जैन धर्म। नाम में ही अतर है। इसका तात्पर्य है — एक वह धर्म है, जो ग्रथ को प्रमाण मानकर चलता है। एक वह धर्म है, जो पुरुष को प्रमाण मानकर चलता है। वेद ग्रथो को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म है वैदिक धर्म। वहा कोई व्यक्ति प्रमाण नही हैं। वेद का कर्त्ता पुरुष नही है। इसका अर्थ है— वेद ईश्वर की वाणी है, ईश्वर का वचन है। वैदिक धर्म का अर्थ है— ईश्वरीय सत्ता या वेद को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म।

जैन धर्म 'जिन' को प्रमाण मानकर चलता है। 'जिन' कोई ईश्वरीय सत्ता नही है, कोई ग्रथ नही है। जैन धर्म मे ईश्वर का प्रामाण्य नही है, ग्रंथ का प्रामाण्य नही है। प्रामाण्य है पुरुष का। आप्त पुरुष जिन हैं। जो आप्त पुरुष है, वह प्रमाण है। जैन धर्म और वैदिक धर्म की मूल प्रकृति में पहला अन्तर है प्रमाण का। जैन धर्म के अनुसार प्रमाण शास्त्र नही है, प्रमाण है पुरुष। वैदिक धर्म के अनुसार पुरुष प्रमाण नही है, प्रमाण है वेद।

वीतराग कौन?

भेद का दूसरा बिन्दु है वीतरागता। जैन धर्म मनुष्य को वीतराग मानता है। वैदिक धर्म मनुष्य को वीतराग नही मानता। वैदिक धर्म का सबसे निकट का प्रतिनिधि ग्रथ है मीमासा। वास्तव में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड को लें तो वेदो के निकट सबध वाला ग्रथ है पूर्व मीमासा। उपनिषद् का सारभूत दर्शन माने तो उत्तर मीमासा है वेद का प्रतिनिधि ग्रथ। उसे धर्म कहने की अपेक्षा दर्शन कहना ज्यादा सगत है। न्याय

एक दर्शन है, वैशेषिक एक दर्शन है। इन्हे धर्म कहने मे कुछ सोचना पडता है। साख्य दर्शन भी है और धर्म भी है। साख्य का साधना पक्ष वडा प्रवल है पर उसे वैदिक मानना वहुत कठिन है। वह विलकुल अवैदिक दर्शन है।

मीमांसा का अभिमत

वेद के दो मुख्य ग्रथ हैं– पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा। मीमासा का अभिमत है– मनुष्य वीतराग नही हो सकता। जो शरीरधारी है, जिसमे वात, पित्त और कफ है, वह वीतराग कैसे बनेगा? वायु का दौर आएगा, व्यक्ति उछलने लग जाएगा, उसका सिर चकराने लगेगा। पित्त का प्रकोप होगा तो व्यक्ति गुस्से मे वकने लग जाएगा। कफ प्रवल होगा तो लोभ और लालच तीव्र वन जाएगा। लोभ के कारण आदमी क्या-क्या अनर्थ नही करता। वात, पित्त और कफ का पुतला वीतराग नही हो सकता। यह मौलिक अन्तर है वीतरागता की स्वीकृति और अस्वीकृति का। वैदिक धर्म मे वीतराग होता है ईश्वर और जैन धर्म मे वीतराग होता है मनुष्य।

सदर्भ : सर्वज्ञता

भेद का तीसरा विन्दु है सर्वज्ञता। जैन दर्शन कहता है– मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। मीमासा का मत है– मनुष्य सर्वज्ञ नही हो सकता। ईश्वर या ब्रह्म सर्वज्ञ हो सकता है, मनुष्य नही। वीतरागता और सर्वज्ञता का वहुत निकट का सवध है। जो वीतराग होगा, वह सर्वज्ञ हो जाएगा। सर्वज्ञ के लिए वीतराग होना अनिवार्य है। वीतराग हुए विना कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नही वन सकता। आचार्य उमास्वाति ने लिखा– कैवल्य की उपलव्धि के लिए मोह का क्षय होना जरूरी है। ईश्वर सर्वज्ञ होता है, यह वात अनेक दर्शनो ने स्वीकार की है। जैन दर्शन का सिद्धान्त है– मनुष्य वीतराग भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी हो सकता है। शायद सपूर्ण भारतीय चिन्तन और दर्शन मे इस स्थापना को स्वीकृत करने वाला अकेला दर्शन है – जैन दर्शन।

संदर्भ : आत्मवाद

भेद का चौथा विन्दु है– ईश्वरवाद या आत्मवाद। वैदिक दर्शन

प्रधानत ब्रह्म या ईश्वरवादी दर्शन है। आचार्य शकर ने ब्रह्म की सत्ता को वास्तविक माना और ससार को माया माना। उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक — दो दृष्टियो से विचार किया। जैन दर्शन ने निश्चय और व्यवहार— इन दो नयो का अवलबन लिया। शकराचार्य ने बताया— मानवीय दृष्टि से या व्यावहारिक दृष्टि से विचार करे तो प्रकृति, जगत्, ईश्वर— ये सब सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करे, ब्रह्म की दृष्टि से विचार करे तो ब्रह्म सत्य है, जगत्, प्रकृति— इनका कोई अस्तित्व नही है।

सिद्धान्त का दुरुपयोग

यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध हैं— 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। इस सिद्धान्त का व्यवहार में लोगो ने दुरुपयोग भी किया है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कुछ रुपये उधार लिए और इस लिखित अनुबध के साथ लिए — दो माह बाद ब्याज सहित रुपए लौटा दूगा। समय बीत जाने पर भी उसने रुपए नही लौटाए। रुपया न आने पर उस व्यक्ति ने ब्याज सहित रुपए मागे। उसने कहा— मैंने तुम्हें जो रुपए दिए थे, उसे चुकाने की अवधि आ गई है।

कब दिया था?

तुम्हारे हाथ से लिखा हुआ साक्ष्य मौजूद है।

मै नही दूगा।

तुम सचाई को झुठला रहे हो।

तुम नही जानते— देने वाला झूठा है, लेने वाला भी झूठा है और लिखने वाला भी झूठा है। ब्रह्म सत्य है और सब झूठ है। तुम क्यों मागने आए हो?

सिद्धान्त के दुरुपयोग का यह एक निदर्शन है।

परिपूर्णता का केन्द्र

एक दृष्टिकोण रहा— जितना पर्यायवाद है, वह मिथ्या है। वह शाश्वत नही है, स्थाई नही है। केवल ब्रह्म सत्य है, इसका अर्थ है— परा और अपरा — दोनों विद्याओं की स्वीकृति। अपराविद्या है तो साथ मे परा विद्या भी है। एक आदमी परा विद्या की साधना करेगा, धर्म का

आचरण करेगा पर उसका केन्द्र आत्मा नही रहेगी। उसका केन्द्र होगा ब्रह्म या ईश्वर। आध्यात्मिक परिपूर्णता का जो केन्द्र है, वह आत्मा नही है, कोई दूसरा है— ब्रह्म या ईश्वर है।

मुक्त आत्मा : विलय या स्वतंत्र अस्तित्व

अध्यात्म की परिपूर्णता का केन्द्र कोई दूसरा नही है, अपनी आत्मा है। यह तथ्य जैन दर्शन ने स्वीकार किया, दूसरे दर्शनो ने नही। यह एक नई स्थापना है। मोक्ष होने के बाद भी आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व रहता है। सारे दर्शन मोक्ष होने के बाद आत्मा को विलीन कर देते हैं। जैसे सब नदिया बहती हैं और अत मे समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही मुक्त होने के बाद आत्मा परमात्मा मे विलीन हो जाती है। जैन दर्शन का मोक्ष का सिद्धान्त पूर्ण स्वतत्रता का सिद्धान्त है— मुक्त होने के बाद, सब कर्मों का विलय कर देने के बाद भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। आत्मा के विलीन होने के सदर्भ मे यह तर्क भी दिया जाता है— हिन्दुस्तान आजाद बना तब पचासों राजा थे। बीकानेर, जोधपुर, हैदराबाद आदि नगरो के अलग-अलग राजा थे। स्वतत्र भारत में उन सबका विलय हो गया। आज कोई राजा नही रहा, सब विलीन हो गए। वैसे ही मुक्त होने के बाद सारी आत्माए परमात्मा मे विलीन हो जाती हैं।

चार पहलू

जैन दर्शन विलय की बात को स्वीकार नही करता। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, सबका अपना अस्तित्व होता है, मुक्त होने के बाद भी प्रत्येक आत्मा अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाए रखती है। वह किसी का अश नही है। वैदिक धर्म के अनुसार वह एक अश है और सब उसके अशभूत हैं। जैन दर्शन कहता है— कोई किसी का अशी नही है और कोई किसी का अश नही है किन्तु सब स्वतत्र हैं, प्रत्येक आत्मा स्वतत्र है। यह है स्वतत्रता का सिद्धान्त।

पुरुष का प्रामाण्य, वीतरागता, सर्वज्ञता और आत्मा की मोक्ष अवस्था में स्वतत्रता— ये चार ऐसे पहलू हैं, जो जैन दर्शन और वैदिक दर्शन की भिन्नता को स्पष्ट करते हैं। यदि हम मूल स्थापनाओ, सैद्धान्तिक

स्थापनाओ के भेद को छोडकर केवल सतही आधार पर भेद की विवक्षा करे तो शायद दोनो दर्शनो के साथ न्याय नही होगा।

जैन दर्शन का आशावाद

जैन दर्शन की ये जो चार स्थापनाएं हैं, उनका प्रतिफलन है आशावाद। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर यह आशावाद जागता है–

मैं प्रमाण बन सकता हू। मैं स्वय प्रमाण हू। मुझे किसी दूसरे के प्रमाण की अपेक्षा नही है।

मैं वीतराग बन सकता हू। वीतरागता की उपलब्धि मेरे हाथ मे है।

मैं सर्वज्ञ बन सकता हूं। विश्व की प्रत्येक हलचल को मैं साक्षात् जान सकता हू, देख सकता हू।

मैं मुक्त होने के बाद अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाए रख सकता हू।

ये चार ऐसे आशावादी दृष्टिकोण जैन दर्शन ने दिए हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के मन मे पुरुषार्थ और पराक्रम की भावना जागती है। व्यक्ति के सामने यह लक्ष्य बिन्दु बना रहता है– मुझे यह होना है, वीतराग, केवली या सर्वज्ञ बनना है। यह लक्ष्य-केन्द्रित आशा उसे सतत पुरुषार्थ की प्रेरणा देती है। इस महान् पुरुषार्थवादी और आशावादी दृष्टिकोण के साथ हम दोनो धर्मो की तुलना करे, दोनो के समान स्तर और मौलिक स्थापनाओ के अतर को समझने का प्रयत्न करे तो हम दोनो महान् धर्मो के साथ न्याय कर पाएगे।

जैन धर्म और इस्लाम धर्म

हमारी दुनिया मे कुछ धर्म वहुत बडे माने जाते हैं। ईसाई, इस्लाम और बौद्ध धर्म – ये तीनों सख्या की दृष्टि से विशाल हैं, पूरी दुनिया मे फैले हुए हैं। एक बडा होता है गुणात्मक दृष्टि से और एक बडा होता है सख्या की दृष्टि से। सख्या की दृष्टि से बडे और छोटे का निर्णय करना सभव है लेकिन गुणात्मकता की दृष्टि से कौन वडा है और कौन छोटा, इसका निर्णय करने के लिए वहुत गभीर अध्ययन अपेक्षित होता है। सख्या मे आकडे वोलते हैं, भीतर की वात नही बोलती।

इस्लाम धर्म सख्या की दृष्टि से काफी वडा है, वहुत फैला हुआ है और फैलता ही जा रहा है। जैन धर्म वर्तमान मे सख्या की दृष्टि से काफी छोटा है। जैन धर्म कँभी वहुत व्यापक था लेकिन वह आज़ वहुत सीमित दायरे मे वधा हुआ है।

धर्म के दो पहलू

धर्म के दो पहलू हैं – आध्यात्मिक धर्म और धर्म का शासन – सगठन या समाज। हम दोनों दृष्टियो से देखे। यह मानने मे कोई कठिनाई नही है कि इस्लाम धर्म ने दोनो दृष्टियो से समृद्धि जोडी है। जैन धर्म आध्यात्मिक दृष्टि से वहुत समृद्ध है। उसका जो व्यवहार पक्ष है, सगठन या समाज का पक्ष है, वह वहुत कमजोर रहा है। जिस किसी व्यक्ति ने इस्लाम धर्म को स्वीकारा, मुसलमान वना, वह भाईचारे की श्रृखला मे जुड गया। जैन धर्म में यह तत्त्व तो रहा पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

चैत्यवदना मे एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है–

तम्हा सव्वपयत्तेण जो नमुक्कारधारओ।
सावगो सो वि दट्ठव्वो जहा परमवधवो।।

जिसने नमस्कार महामत्र को धारण कर लिया, वह श्रावक बन गया। वह तुम्हारा परम बाधव है।

सामाजिकता : भाईचारे का सिद्धान्त

यह भाईचारे का सिद्धान्त था पर जैन लोग इसे अपना नहीं पाए। आज कोई हरिजन नमस्कार मत्र को धारण करता है तो उसे भाई नही माना जाता। आज कोई दूसरी जाति का व्यक्ति जैन बनता है तो उसे भाई नही माना जाता। दादा जिनचद्र सूरी ने जिस परमबधुता वाली बात पर बल दिया, उसे समाज मे मान्यता नही मिली। यदि वह बात मान्य होती तो आज जैन धर्म सामाजिक दृष्टि से, सगठन की दृष्टि से और दर्शनाचार की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली होता। दर्शनाचार को जो महत्त्व मिलना चाहिए था, वह नही मिल पाया। इसका परिणाम है – जैन धर्म सख्या की दृष्टि से आज भी शक्तिशाली नही है। कोरा आध्यात्मिक धर्म उन लोगो के लिए उपयोगी होता है जो तत्व की गहरी पैठ रखते हैं, तत्त्व की गहराई मे जाना चाहते हैं। जहा सामाजिक जीवन मे भाईचारे की भावना नही होती, साधर्मिकता नही होती, यह सात्विक गर्व नही होता कि यह मेरा साधर्मिक भाई है, हम एक ही धर्म को मानने वाले और एक ही मत्र का जप करने वाले हैं, वहा समाज शक्तिशाली नही बनता। जहा साधर्मिकता की अनुभूति, भाईचारे की अनुभूति नही होती वहां सामाजिकता का विकास नही होता

सामाजिकता की समस्या

इस्लाम धर्म सामाजिकता की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली रहा है और इसका कारण यह भावना है – जो मुसलमान बन गया, वह अपना हो गया। सांभर की झील में जो भी पडा, वह नमक बन गया। यह जो अपनाने की वृत्ति है, व्यवहार या सामाजिकता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजपूत, जाट आदि जातियो के कितने लोग जैन धर्म के निकट आए पर उन्हे ऐसा कोई शक्तिशाली नेता नही मिला, जो उनको अपनाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ा सके। लोगो को ऐसा प्रतीत होता है – हम जैन धर्म को तात्त्विक दृष्टि से बहुत अच्छा मानते हैं, उसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा भी है लेकिन जो पहले से जैन बने हुए हैं, वे हमें

अपनाने के लिए तैयार नही हैं। यह सामाजिकता की समस्या जटिल स्थिति पैदा कर देती है। आचार्य श्री तुलसी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया, यदि उसे समाज मूल्य देता तो जैन धर्म सामाजिकता की दृष्टि से कमज़ोर नही रहता।

संकीर्णता मिटे

लाडनू का प्रसग है। आचार्य श्री ने हरिजनो को प्रवचन सुनने का आह्वान किया। अनेक हरिजन प्रवचन सुनने के लिए लालायित बने। समाज के कुछ प्रमुख लोगों को इस बात का पता चला। उन्होने कहा — यह नही हो सकता कि हरिजन आए और हमारे साथ बैठे। हम देखते हैं— वे कैसे आएगे पंडाल में। हम दरवाजे मे खडे रहेगे, कोई भीतर नही आ सकेगा। ये सारी बातें आचार्यश्री के पास पहुंची। आचार्यवर ने कहा— यह हमारा निर्णय है — हरिजन पडाल में आ सकते हैं, प्रवचन सुन सकते हैं। उन्हे प्रवचन सुनने से रोकने का अर्थ है — हमे यहा रहने से रोकना। आचार्यवर के इस कथन से लोगो का आवेश मद पडा। हरिजन आए, महाजनो के साथ बैठकर प्रवचन सुना।

हमारा समाज इससे भी कुछ आगे बढ़ा। श्रीडूगरगढ़ मे विशाल हरिजन सम्मेलन आयोजित किया गया। उसमे लगभग चार हजार हरिजनो ने भाग लिया। सम्मेलन मे भाग लेने वाले हरिजनो को भोजन कराया गया। भोजन करने वाले थे हरिजन और भोजन परोसने वाले थे जैन समाज के सपन्न और समाजसेवी लोग। वह एक अनोखा दृश्य था। यदि वह क्रम स्थाई बनता, हरिजनो को अपनाने की मानसिकता का निर्माण होता तो जैन धर्म का महान् तत्त्व दूसरो के लिए सहज ग्राह्य बनता, भाईचारे की भावना व्यापक बन जाती।

समस्या यह है — आज भी यह सकीर्णता मिटी नही है। समाज में वह समर्थ नेतृत्व नही है, जो इस बात को आगे बढ़ा सके। यही कारण है — गुणात्मकता की दृष्टि से महान् होते हुए भी जैन धर्म सख्या की दृष्टि से बहुत समृद्ध नही बन पा रहा है।

जरूरी है सौहार्द का विकास

हम इस्लाम का समाज-दर्शन देखे। वह बहुत ग्राह्य है। उसमें

अर्थ है – ईश्वर के प्रति समर्पण। हम तुलनात्मक दृष्टि से देखे। जैन धर्म है आत्मा या परमात्मा के प्रति समर्पित और इस्लाम धर्म है खुदा या अल्लाह के प्रति समर्पित। अतर इतना है – जैन धर्म ईश्वर कर्तृत्व को स्वीकार नही करता और न ही न्याय-अन्याय की बात ईश्वर के साथ जोडता है। जहा सर्वज्ञता का प्रश्न है वहा जैन धर्म भी परमात्मा को सर्वज्ञ मानता है और इस्लाम में भी ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है।

धर्मान्तरण का प्रश्न

एक प्रश्न है धर्मान्तरण का। इस्लाम को विस्तारवादी माना जाता है। यह कहा जाता है – इस्लाम के लोगो ने जबरदस्ती अपने धर्म मे दूसरे लोगों को दीक्षित किया। यह बात उत्तरकालीन हो सकती है। कुरान मे इसका निषेध है। यह बात कुरान सम्मत नही है। कुरान कहता है – तुम लोगो में धर्म की सहिष्णुता होनी चाहिए। धर्म के विषय में जोर-जबर्दस्ती का कोई स्थान नही है। यह है इस्लाम का सिद्धान्त। जैन धर्म का भी यही सिद्धान्त है। जैन धर्म ने हृदय परिवर्तन को महत्त्व दिया– दूसरो के हृदय को बदलो, दिल को बदलो, मस्तिष्क को बदलो। समझा-बुझाकर धार्मिक बनाओ। जबर्दस्ती किसी से धर्म नही कराया जा सकता। यही सिद्धान्त इस्लाम का है – धर्म के मार्ग मे जोर-जबर्दस्ती का कोई अवकाश नही है।

कुरान का कथन

आचार या चरित्र की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है – सचाई दो होती ही नही है। साधना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियो का अनुभव दो नही होता। जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र किया है, मन को साधा है, कषाय को जीता है, समता का जीवन जिया है, वह किसी भी देश मे, किसी भी काल मे हो, सत्य तक पहुच जाता है। कुरान का एक वाक्य है– 'हे श्रद्धावानो ! ऐसी बात क्यो कहते हो, जो करते नही, ईश्वर के निकट यह बात बहुत निन्द्य है कि वह बात कहो, जो करो नही।' कुरान का यह वाक्य कितना मूल्यवान है – तुम कहो कुछ और करो कुछ, इससे ईश्वर प्रसन्न नही होता। कथनी और करनी की समानता पर बल देने वाला यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

यथाख्यात चारित्र : अविसंवादन योग

जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है – यथाख्यात चारित्र। हमारे आचरण का चरम बिन्दु है – यथाख्यात चारित्र – अविसवादन योग। सत्य क्या है? हम सत्य को बहुत स्थूल रूप मे स्वीकार कर लेते हैं – वाणी से झूठ मत बोलो। यह सत्य की स्थूल व्याख्या है। सत्य केवल वाणी के साथ ही नही जुडता। यह सत्य का एक पहलू है, उसकी समग्र परिभाषा नही है। केवल वाणी का असत्य ही असत्य नही होता। काया का भी असत्य होता है, भाव का भी असत्य होता है। एक असत्य है विसवादन योग – कहना कुछ और करना कुछ। यह शायद सबसे बडा झूठ है, दुनिया को धोखा देना है। व्यक्ति बहुत बडी-बडी बाते बनाता है लेकिन चलता है बिलकुल दूसरी दिशा मे। यह बहुत बडा धोखा है। जैन धर्म ने आचरण के साथ इस बात को जोडा – कथनी और करनी मे सवादिता होनी चाहिए। सवादिता का अंतिम बिन्दु है यथाख्यात चारित्र। जिस बिन्दु पर पहुचकर कथनी और करनी की सारी दूरिया समाप्त हो जाती हैं, उस बिन्दु की उपलब्धि का नाम है यथाख्यात चारित्र। इस सदर्भ मे इस्लाम धर्म और जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत निकट आ जाता है।

स्वतंत्रता का प्रश्न

अली ने मोहम्मद साहब ने पूछा – हम स्वतत्र हैं या परतत्र? मोहम्मद साहब ने कहा – खडे हो जाओ। अली महाशय खडे हो गए। मोहम्मद साहब बोले – एक पैर को सीधा कर दो। अली ने वैसा ही किया। मोहम्मद साहब का दूसरा निर्देश था – अब दूसरे पैर को भी सीधा कर दो। अली ने कहा – मैं दूसरा पैर सीधा कैसे कर सकता हू? मैं गिर जाऊगा। मोहम्मद साहब बोले – तुम एक पैर को सीधा करने मे स्वतंत्र हो और दूसरे पैर को सीधा करने मे परतत्र हो। इसका अर्थ है– तुम स्वतत्र भी हो, परतत्र भी हो।

जैन आचार्य के सामने प्रश्न आया – हम कर्म करने मे स्वतत्र हैं या परतत्र? आचार्य ने कहा – एक आदमी खजूर के पेड के सामने खडा है। उसके मन मे इच्छा जागी, इस पेड पर चढ जाऊ। वह उस पेड पर चढ

गया। वह चढने मे स्वतत्र है। चढे या न चढे, यह उसकी स्वतत्रता है किन्तु चढने के बाद नीचे उतरना उसकी परतत्रता है।

स्वतत्रता और परतत्रता सापेक्ष है। एक व्यक्ति खाने मे स्वतत्र है। ज्यादा खाएगा तो अफारा आ जायेगा। उस परिणाम को भोगने मे वह परतत्र है। पेट खराब है, पाचनशक्ति अच्छी नही है और व्यक्ति ने भारी चीज खा ली। वह उसे खाने मे स्वतत्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने मे परतत्र है। आदमी एकातत न स्वतत्र है और न परतत्र।

वर्तमान आचार का प्रश्न

कुरान को पढते समय ऐसा नही लगता – आज जैसा चल रहा है, इस्लाम धर्म वैसा ही है। कुरान मे बहुत अच्छी बाते हैं – नीति और आचार का उपदेश है, न्याय और हृदय परिवर्तन का सदेश है– 'किसी के साथ अन्याय मत करो। किसी के साथ जुल्म मत करो। किसी को सताओ मत। सबके साथ मैत्री करो। प्रेम करो। तुम्हे ईश्वर के पास जाना है, वहा न्याय होगा। शरीर पर ममत्व मत करो। यह शरीर छूट जाएगा, नष्ट हो जाएगा। तुम नष्ट नही होने वाले हो।' इन सब बातो को सामने रखकर देखे तो ऐसा लगता है – वेदान्त, जैन दर्शन, बौद्ध, कुरान, साख्य आदि आदि मे बहुत निकटता है। इसी आधार पर पश्चिम के लोगो ने कुरान और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया है। कुरान और गीता मे बहुत समता है इसलिए दादा पेशवा ने गीता का फारसी मे अनुवाद कराया। जहा वैदिक दर्शन मे स्वप्न, प्रसुप्ति आदि चार अवस्थाए मानी गई हैं वहा इस्लाम मे भी चार अवस्थाए मानी गई हैं। साख्य दर्शन का साधना पक्ष है पातजल योगदर्शन, इस्लाम का साधना दर्शन है सूफी दर्शन। सूफी सतो ने अध्यात्म की दिशा मे काफी विकास किया और वह विश्व मे काफी प्रभावशाली बना। मूल बात यही है – वर्तमान आचार और कुरान की बातो मे काफी अन्तर है। यह मान लेना चाहिए – जैन धर्म के सिद्धान्त और जैन श्रावक के आचार मे काफी निकटता है। कहा गया – एक जैन श्रावक के लिए झूठा तोल-माप सर्वथा निषिद्ध है। वह मिलावट नही कर सकता। जो झूठा तोल-माप करता है, मिलावट करता है, वह पशु-योनि मे जाता है। यह जैन श्रावक

की सामान्य आचार-संहिता है और इसका पालन एक जैन श्रावक को करना होता है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ

जहा मूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहा उत्तराध्ययन और कुरान को आमने-सामने रखकर देखेगे तो ऐसा लगेगा — अनुभव दो नही होता, अच्छाई दो नही होती। अन्तर हो सकता है सूक्ष्मता तक जाने मे, गहराई तक पहुचने मे। जहा आचार और व्यवहार के स्थूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहा,अनेक धर्मों मे समानता के व्यापक तत्त्व खोजे जा सकते हैं। हमें इस सदर्भ मे प्रयत्न भी करना चाहिए। जैन दर्शन का बडा उदार दृष्टिकोण रहा है। जैनधर्म मे बहुश्रुत वह होता है, जो अपने सिद्धान्तो को भी जानता है दूसरों के सिद्धान्तो को भी जानता है। आचार्य की यह एक विशेषता है कि वह स्वसमय और परसमय — दोनो का ज्ञाता होता है। दूसरे धर्मों को जानने का एक लाभ यह होता है कि दृष्टि की सकीर्णता मिट जाती है। अन्यथा आदमी कूपमण्डूक बना रहता है। वह सोचता है — सारी अच्छाइया यही हैं। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है — अच्छाइयो का क्षेत्र व्यापक है। सत्य विराट् है। वह सब जगह प्राप्त होता है।

सत्य की समझ . प्रशस्त पथ

हम दूसरे धर्मो को जाने लेकिन केवल ऊपरी तौर पर नही। सब धर्मों के बारे मे मौलिक जानकारी करनी चाहिए। मूल सिद्धान्त क्या है और उसकी तुलना कैसे हो सकती है? इसका माध्यम बन सकता है नयवाद। नयवाद इतना व्यापक है कि उसमे आग्रह का अवकाश ही नही है। हमारी दृष्टि मे प्रत्येक धर्म एक नय है। उस नय को समझे। एक व्यापक दृष्टिकोण समझ में आएगा, सचाई के निकट पहुचने मे हमे बहुत सुविधा होगी। तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है — सत्य के अनेक मार्गो का व्यापक अवबोध। यह अवबोध सत्य की सही समझ का प्रशस्त पथ है।

जैन धर्म और ईसाई धर्म

दुनिया में जितने विचार हैं, वे सब सापेक्ष हैं। किसी भी विचार को असत्य कहने से पहले पांच बार नही, पचास बार सोचना चाहिए। हम जिसे असत्य मान रहे हैं या कह रहे हैं क्या वह सत्य नही है? वह सत्य भी हो सकता है। वह विचार भी एक नय है, एक दृष्टिकोण है और एक सचाई है। हम निरपेक्ष भाव से उसका तिरस्कार करें, खण्डन करें तो शायद सत्य के प्रति न्याय नही होगा

अवाच्य है अखण्ड सत्य

सत्य की मर्यादा है—सब दृष्टिकोणो का समुच्चय करें, समाहार और समन्वय करे फिर अखण्ड सत्य की बात करे। हमारी वाणी मे शक्ति नही है कि वह अखण्ड सत्य का प्रतिपादन कर सके। आज तक कोई भी पुरुष ऐसा पैदा नही हुआ, जिसने अखण्ड सत्य का प्रतिपादन किया हो। चाहे वह बडे से बडा अवतार हो, ईसा, बुद्ध, महावीर, मौहम्मद साहब, राम या कृष्ण हो। कोई भी अखण्ड सत्य को नही बता सका। हमारे पास वाणी की शक्ति सीमित है और उनके पास भी वाणी की शक्ति सीमित थी। ज्ञान असीम हो सकता है पर वाणी किसी की असीम नहीं हो सकती। प्रतिपादन की क्षमता भी असीम नही है, जीवन भी किसी का असीम नही है। अनत सत्य को एक छोटे से जीवन मे कैसे बताया जा सकता है? एक व्यक्ति चाहे पचास वर्ष का है या सौ वर्ष का अथवा इससे भी अधिक। इतनी सीमित आयु में वह अनत सत्य को कैसे बता सकता है? एक व्यक्ति प्रतिदिन चौबीस घटा बोले और सैकडो वर्षो तक लगातार बोलता चला जाए तो भी वह सत्य का एक बिन्दु जितना हिस्सा ही अभिव्यक्त कर पाएगा। कहना चाहिए—वर्णमाला के एक अक्षर 'अ' का प्रतिपादन भी सैकडों वर्षो मे नही किया जा सकता। एक अ के अनत पर्याय हैं। केवल एक अकार का प्रतिपादन भी सैकडो वर्षो मे सभव नही है तो अनत सत्य

का प्रतिपादन किसी के लिए भी कैसे सभव है?

नय दृष्टि

यह तथ्य है—आज तक किसी ने सत्य का पूरा प्रतिपादन किया नही है और भविष्य मे भी सत्य का पूरा प्रतिपादन नही किया जा सकेगा। इस स्थिति मे हम एक वात पकड कर अकड जाए, खीचातानी करें, यह कैसी समझदारी होगी? भगवान् महावीर ने इस सदर्भ मे वहुत महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है—तुम प्रत्येक विचार पर चिन्तन करो और सोचो—यह किस नय की अपेक्षा से सही है। यह मत सोचो कि यह गलत है। गलत कहने से पहले इस वात पर विचार करो—यह किस नय की अपेक्षा से सही हो सकता है। जैन आचार्यों ने इस दृष्टिकोण से अनेक दर्शनो पर विचार किया है। उनके सामने ईसा का दर्शन नही रहा, इस्लाम का दर्शन नही रहा किन्तु उनके सामने जितने दर्शन थे, उन सव पर उन्होंने नय-दृष्टि से विचार किया। प्रत्येक दर्शन को अपना एक नय माना। सात नय हैं, सात सौ नय भी हो सकते हैं, सात हजार नय भी हो सकते हैं। कोई भी धर्म वाकी नही वचेगा। उन सबको मिलाए तो अखण्ड सत्य सामने आएगा।

लक्ष्य है अखण्ड को जानना

हम खण्ड को जानते हैं किन्तु हमारा लक्ष्य होना चाहिए अखण्ड को जानना। जो व्यक्ति खण्ड मे उलझ जाता है, उसका व्यक्तित्व भी खण्डित वन जाता है। यह जो समग्रता का दृष्टिकोण है, अनत धर्म के सग्रह का दृष्टिकोण है, वह तुलनात्मक अध्ययन का दृष्टिकोण है। स्व-समय के साथ पर-समय की जो वात कही जा रही है, उसका यही आधार है। वास्तव मे पर-समय कोई है ही नही। पूछा गया—जितने धर्म और जितने विचार हैं क्या उनको मिथ्या माने? समाधान दिया गया—जो मिथ्या दृष्टिकोण वाला है उसके लिए सम्यक् या मिथ्या—सव कुछ मिथ्या है। जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो गया, उसके लिए सम्यग्श्रुत हो या मिथ्याश्रुत—सव कुछ सम्यक् है। हमारे लिए कोई भी धर्म असत्य नही है और इसी आधार पर तुलनात्मक अध्ययन के क्रम को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सवका दृष्टिकोण जानें और समझें, यही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य है।

ईसा और जैन धर्म

जब ईसा धर्म की यात्रा मे थे, तब वे हिन्दुस्तान मे भी आए। कश्मीर मे उनका प्रवास रहा। वहा ईसा का बौद्धों से भी काफी सपर्क रहा, जैनों से भी काफी संपर्क रहा और वैदिक लोगों से भी काफी सपर्क रहा। इस तथ्य को बहुत सारे आधारो पर जाना जा सकता है। ईसा के धर्म प्रवर्तन के बाद पहली या दूसरी शताब्दी में ईसाई धर्म का एक बडा दल केरल (भारत) आया। त्रिवेन्द्रम, आज जो केरल की राजधानी है, जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। आचार्य श्री की केरल यात्रा के दौरान हमने देखा—अनेक मंदिर ऐसे हैं, जहा भीतर दूसरी प्रतिमाए हैं और बाहर दूसरी। आज भी बाहरी परिसर मे पार्श्वनाथ की प्रतिमाए, अन्य जैन तीर्थकरो की प्रतिमाए स्थान-स्थान पर लगी हुई हैं। केरल के अनेक विद्वान् मिले, जिन्होने इस विषय पर व्यापक छानबीन की है, उनका कहना था—पहले ये मंदिर भगवान् पार्श्वनाथ के थे बाद में परिवर्तित हो गए। जैन धर्म के इस प्रमुख केन्द्र मे ईसाइयो का जैन श्रमणों के साथ प्रथम मिलन हुआ; ऐसा माना जाता है। उस समय विचारो और कार्यों का काफी आदान-प्रदान हुआ।

दान चतुष्टयी

ईसाई धर्म में सेवा का बहुत स्थान है, प्रेम का बहुत स्थान है। कभी-कभी यह कल्पना उभरती है—यह सेवा की बात ईसाई धर्म के लोगो ने जैनधर्म से तो नही सीखी है? अनेक विद्वानो ने एक प्रश्न उपस्थित किया—दक्षिण में जैन धर्म इतना व्यापक कैसे बना? उसकी व्यापकता का कारण क्या रहा? इस प्रश्न की खोज और मीमासा के बाद विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुचे—दक्षिण मे जैन धर्म के व्यापक होने का कारण है—दान चतुष्टयी। वहा जैनों ने चार प्रकार के दान प्रवर्तित किए—

१ अन्नदान
२ विद्यादान
३ औषधदान
४. अभयदान

इन चारों दानो को मुख्यता देने से जैन धर्म व्यापक बनता चला गया।

जैन धर्म : व्यापकता का कारण

जो लोग आजीविका कमाने के लिए समर्थ नही हैं, उनके लिए आजीविका की व्यवस्था करना, यह है अन्नदान। शिक्षा की व्यवस्था करना विद्यादान है। यह बहुत व्यापक कार्य जैन लोगो ने किया। विद्वानो ने लिखा है—जब हमने महाराष्ट्र मे पढना शुरू किया, तब हमें सबसे पहले पढाया गया—ॐ नम सिद्धम्। महाराष्ट्र मे ही नही, पूरे दक्षिण मे जैन गुरु यह काम अपने हाथ में लिए हुए थे। वे महात्मा बने और आज मथेरन बन गए हैं। उन लोगो ने विद्या के पूरे काम को सभाला था। तीसरा था औषधदान। औषधि की व्यवस्था करना, चिकित्सा की व्यवस्था करना औषधदान है। चौथा दान था अभयदान। एक दूसरे के प्रति मैत्रीभाव। कोई आतक नही हो, किसी को कोई सताए नही। इस दान चतुष्टयी के कारण जैन धर्म जन-धर्म बन गया, लोक-व्यापी बन गया। समाज के साथ एक गहरा तादात्म्य भाव जुड गया।

दक्षिण में जैन धर्म

जैन धर्म की दक्षिण मे भाषा, साहित्य, सस्कृति और सभ्यता के विकास मे अग्रणी भूमिका रही है। आचार्य श्री दक्षिण यात्रा मे मद्रास पधारे। आचार्यवर के स्वागत समारोह का आयोजन किया गया। तत्कालीन मुख्यमत्री श्री अन्नादुरै ने आचार्यवर का स्वागत करते हुए कहा—आचार्य श्री! आपका स्वागत करते हुए मुझे कोई आश्चर्य नही है। मुझे इस बात का आश्चर्य है— आपने अपने घर को इतने वर्षों तक सभाला क्यों नही। हमारी तमिल भाषा मे जितने भी प्रौढ़ काव्य हैं, वे सब जैन आचार्यों के बनाए हुए हैं। आज भी एम ए के कोर्स में जितने क्लासिकल काव्य और व्याकरण अनिवार्यत पढाए जाते हैं, वे सब जैन आचार्यों द्वारा निर्मित हैं। जैसे उत्तर भारत मे कोई हिन्दी पढ़ने वाला है, वह सूरदास, मीरा, तुलसीदास, कबीर आदि को पढ़े बिना हिन्दी का कोर्स पूरा नही कर सकता वैसे ही तमिल और कन्नड मे जैन आचार्यों के काव्यों और व्याकरणों को पढे बिना कोर्स पूरा नही होता।

व्यापकता का रहस्य

हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। जिस दान चतुष्टयी के कारण जैन धर्म

व्यापक बना, आज उसी मार्ग को ईसाई धर्म अपनाए हुए है। ईसाई जो कार्य कर रहे हैं, सेवा कर रहे हैं, वह यही तो है। वे इन तीनो दानो को अपना मिशन बनाए हुए हैं—शिक्षा की व्यवस्था, चिकित्सा की व्यवस्था और आजीविका की व्यवस्था। जहा ये तीनो व्यवस्थाए होती हैं वहा भय अपने आप मिट जाता है। कहा जा सकता है—आज जो ईसाई धर्म मे चल रहा है, वही काम प्राचीन काल मे जैन लोगो ने दक्षिण भारत मे किया था। जैन धर्म की व्यापकता का कारण भी यही रहा और ईसाई धर्म की व्यापकता का कारण भी यही है।

आंकड़ों की भाषा

तत्त्व को जानने वाले लोग बहुत कम होते हैं। ऐसे कितने लोग हैं, जो तत्त्व को गहराई से समझते हैं, तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार करते हैं। ऐसे व्यक्तियो की सख्या नगण्य ही कही जा सकती है। आकडो की भाषा है—जैन धर्म के अनुयायियो की सख्या है एक करोड और ईसाई धर्म के अनुयायी हैं एक अरब से भी अधिक। इसका कारण यही हो सकता है—जैन लोगो ने समाज के साथ सपर्क करने वाली बाते भुला दी और कोरा तत्त्वज्ञान को अपना लिया। तत्त्व को समझने वाले लोग कितने होते हैं! कितने लोग तात्त्विक हो सकते हैं! सामान्य आदमी तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार नही करता। सामान्यत आदमी अपनी श्रद्धा या अच्छी विशेषता के कारण धर्म विशेष के प्रति आकृष्ट होता है। वह सोचता है—क्या मिलेगा इस धर्म से? मुख्य होती है कुछ पाने या मिलने की बात। तत्त्व की बात कुछ और ही होती है।

दार्शनिक सोलन

यूनान का एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है सोलन। यूनान के बादशाह ने एक विशाल महल बनवाया। वह बहुत भव्य और दार्शनीय था। जो भी आता, उसे देखता, प्रशसा किए बिना नही रहता। बादशाह ने सोचा—सब लोग आते हैं, प्रशसा के गीत गाते हैं, किन्तु जब तक सोलन प्रशंसा नही करता, तब तक कुछ भी नही है।

उस व्यक्ति का मूल्य होता है, जो बहुत कम बोलता है। सोलन दार्शनिक था। वह प्रशसा के मामले मे बहत कजूस था। वह मद्रा तत्त्व

की वात मे खोया रहता। जो व्यक्ति तत्त्व की गहराई मे पहुच जाता है, तत्त्व की ऊचाई को छू लेता है, उसके सामने प्रशसा करने की वात वहुत कम हो जाती है। प्रशसा वही व्यक्ति ज्यादा करता है, जो तत्त्व की गहराई का स्पर्श नही करता।

वादशाह की अभीप्सा

हजारो-हजारो लोग महल की प्रशसा कर रहे थे, पर वादशाह को सतोष नही हुआ। वादशाह ने सोचा—जिस दिन सोलन आकर प्रशसा करेगा, उस दिन मानूगा—वास्तव मे ही महल सुन्दर और भव्य वना है। एक दिन वादशाह ने सोलन को वुलाया। सोलन वादशाह के सामने प्रस्तुत हो गया। वादशाह स्वय सोलन को महल दिखाने के लिए तैयार हुआ। वादशाह सोलन के साथ पूरे महल मे घूम रहा है, प्रत्येक कमरे की ओर सकेत करके वता रहा है—यह प्रासाद का मुख्य कक्ष है, यह डाइनिग हाल है, यह सभा-कक्ष है, यह शयन-कक्ष है। आप देखिए—फर्श कितना वढिया है, शीशे जैसा चमक रहा है। महल की जितनी विशेषताए थी, वादशाह सोलन को वताता जा रहा था। सोलन ने एक शव्द भी प्रतिक्रिया मे नही कहा। वादशाह ने सोचा—मैंने कितना श्रम किया; पसीना वहाया फिर भी यह मौन साधे हुए है।

सोलन का जवाव

पूरा महल देखने के वाद वादशाह और सोलन—दोनो वाहर आ गए। वादशाह का मन क्षोभ से भर गया—मेरा इतना अपमान! इतना तिरस्कार! इतने सुन्दर महल के लिए दो शव्द भी नही। वादशाह से रहा नही गया। वह प्रतिक्रिया जानने के लिए व्यग्र था। उसने कहा—महान् दार्शनिक सोलन! आपने मेरा महल देखा?

हा, देख लिया।

कैसा लगा?

जैसा था, वैसा लगा।

इतनी वढिया सामग्री! इतने वढिया कमरे! आपको कैसा लगा? कितना अच्छा लगा?

महाराज! मैंने सारा देख लिया। इसमें प्रशसा करने जैसा कुछ भी नहीं

लगा। जैसा लगा है, वैसा कहूगा तो आपको अच्छा नही लगेगा। इसलिए मेरा मौन रहना ही अच्छा है।

वादशाह यह सुनकर स्तब्ध रह गया।

जहा तत्त्व की वात होती है वहा भव्यतम प्रासाद की प्रशसा नही होती। छोटी-मोटी वात का मूल्य ही क्या होगा? कोई भी धर्म या सप्रदाय तत्त्व के आधार पर व्यापक या आकडे वाली गणना नही वता सकता। जो सख्या का विस्तार हुआ है या होता है, वह सामाजिक व्यवस्था, सौहार्द, प्रेम और सेवा के आधार पर हुआ है। तत्त्व की गहराई मे जाना वहुत कठिन काम है। सामान्य आदमी तत्त्व की गहरी चर्चा को सुनना ही पसद नही करता।

ईसा के उपदेश

ईसा के जो उपदेश हैं, वे एक सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार से सीधे जुडे हुए हैं। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ईसा की शिक्षाए वहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

किसी की हत्या न करना।

व्यभिचार न करना।

चोरी न करना।

झूठी गवाही न देना।

धन के लालच मे न आना। लोभ सव वुराइयो की जड है। धन को न साथ लाए हैं और न साथ ले जाएगे।

ईसा ने क्षमा धर्म पर भी वहुत वल दिया। पतरस ने पूछा—हे प्रभु! मेरा भाई अपराध करता रहे तो उसे कितनी वार क्षमा करू? क्या सात वार तक क्षमा करू?

ईसा ने कहा—सात वार ही क्यो? सात वार के सत्तर गुना तक उसे क्षमा कर।

यह क्षमादान अपनत्व पैदा करता है। सामाजिक सौहार्द और विस्तार में क्षमा, उदारता, प्रेम, परस्परता जैसे गुणो का विकास वहुत उपयोगी होता है। ईसाई धर्म ने इन सवका व्यवहार के स्तर पर समाजीकरण किया है। उसके प्रति आकर्पण का यह प्रमुख कारण है।

अहिंसा और प्रेम का समाजीकरण

निश्चय या शुष्क दर्शन की चर्चा सामान्य व्यक्ति को आकर्षित नही करती। वह आकर्षित होता है व्यवहार के आधार पर। ईसाई धर्म मे अहिसा, प्रेम या मैत्री का समाजीकरण है। ईसाई धर्म के व्यक्तियो ने अहिसा को समाज मे प्रतिबिम्बित किया है, समाज से जुडकर जीवन जिया है। समाज के साथ व्यवहार के धरातल पर प्रेम को कैसे जीया जाए, यह सूत्र ईसाई धर्म के सामने रहा है।

अल्बर्ट आईस्टीन एक महान् विचारक व्यक्ति थे। उन्होने बुद्ध, महावीर तथा भारतीय मतो पर काफी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे अफ्रीका के जगलो मे गए। ऐसे जगल, जहा भयकर मच्छर और जानवर होते हैं। उन जगलो मे आदमी का रह पाना मुश्किल था। वहा रहने वाले आदिवासी बहुत खूखार होते थे। वे आदमी को भी खा जाते। आईस्टीन वैसे जगलो मे झोपडी बाधकर रहे। उन खूखार आदिवासियो के साथ प्रेम-भरा व्यवहार किया। धीरे-धीरे उनको समझाना शुरू किया, सभ्य बनाना शुरू किया। उनकी सेवा मे रहे और तब तक उस कार्य मे अहर्निश जुटे रहे, जब तक वह जाति सभ्य न बन गई। अपनी सेवा से आईस्टीन ने आदिवासी जीवन जीने वाले व्यक्तियो को सभ्य आदमी की तरह रहना सिखा दिया। सेवा के क्षेत्र मे आईस्टीन दुनिया के प्रसिद्ध व्यक्ति बन गए। विश्व के बडे से बडे पुरस्कार आईस्टीन को उपलब्ध हुए।

यह है अहिसा, प्रेम और मैत्री का समाजीकरण।

व्यक्तिगत साधना . सामाजिक संपर्क

हम केवल आदर्श की बात करे, व्यवहार के स्तर पर कुछ भी न करे तो वह बात कुछ समझ मे नही आती। ऐसा लगता है—जैन धर्म के लोग निश्चय नय के पक्ष पर ज्यादा चले गए। जो निश्चय के पक्ष पर जाएगे, वे आत्म-साधना की बात भले ही कर ले वहा सस्था की बात नही होगी। वहा मोक्ष की बात होगी पर समाज को सुधारने की बात नही होगी।

आचार्यवर की केरल यात्रा मे अनेक बार चर्च मे रहने के अवसर आए। उन प्रवासो मे अनेक पादरी और सिस्टर्स से वार्तालाप हुआ। उन्होने कहा—हमे यह काम तो दिया गया कि सेवा करो किन्तु व्यक्तिगत साधना

के लिए कुछ भी नही बताया गया। हमारे मन मे बडा असतोष रहता है। हम क्या करे? आप हमारे अपने जीवन के लिए कुछ बताए? पादरी घटो तक हमारे पास बैठे रहते, ज्ञान की बात पूछते, साधना विषयक जिज्ञासाए करते, व्यक्तिगत साधना के लिए मार्गदर्शन लेते।

व्यवहार और निश्चय

दोनो प्रश्न हमारे सामने हैं—व्यक्तिगत साधना का प्रश्न भी और समाज के साथ सपर्क का प्रश्न भी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी—ये दोनो नय हैं। एक नय है व्यक्तिगत साधना का और दूसरा नय है अहिसा के समाजीकरण का। दोनो अलग-अलग रहते हैं तो शायद दोनो मे कठिनाई होती है। अगर दोनो का समाहार हो जाए तो समस्या सुलझ जाए। समाज के स्तर पर किस प्रकार समाज के व्यक्तियों का उत्थान हो सकता है? किस प्रकार सामाजिक समस्याओ का समाधान किया जा सकता है? यह है व्यवहार नय। अपना उत्थान कैसे हो, यह है निश्चय नय। यदि दोनो समानातर रेखा की भाति साथ-साथ चले तो पूर्णता की संभावना की जा सकती है।

साझेदारी का अनुभव करे

ऐसा लगता है—प्रकृति को पूरी बात मान्य नही है। यदि एक ही धर्म सब काम करने लग जाए तो दूसरे क्या करेगे। कार्य का एक सहज विभाजन हो गया। हम यह कल्पना न करे—जैन धर्म के हिस्से में निश्चय नय की बात आ गई, आत्म-साधना या मोक्ष का मार्ग आ गया और ईसाई धर्म के हिस्से मे समाज सेवा करना, गरीबो का उत्थान करना आदि कार्य आ गया। हम यह माने—यह साझेदारी का काम है। हालांकि जैन समाज वर्तमान मे समाज सेवा के अनेक कार्यो मे अग्रणी भूमिका निभा रहा है और अपने व्यापक आधार को पुन उपलब्ध करने की दिशा मे गति कर रहा है। ईसाई और जैन—दोनो भाई-भाई हैं। हमारी एक साझेदारी है। एक भाई को काम मिला है — आत्मतत्त्व के प्रसार का और दूसरे भाई को काम मिला है समाज सुधार का।

परस्परता का भाव जागे

हम भाईचारे का अनुभव करे, साझेदारी का अनुभव करे। ऐसा

मानें—एक गुरु के दो शिष्य हैं। गुरु ने उन दोनो को दो अलग-अलग क्षेत्रो मे काम करने का दायित्व सौंप दिया है। दोनो शिष्य अपने अपने काम की पूर्ति मे निष्ठा से लगे हुए हैं। गुरु के कार्य में दोनो की साझेदारी है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है—साझेदारी का अनुभव करना। न हीनता और न उत्कर्प। न तिरस्कार और न घृणा। किन्तु परस्परता—एक-दूसरे का पूरक होने का भाव। दुनिया के महान् साम्राज्य मे रहने वाले सब लोग अपनी साझेदारी का, अपने पर आए हुए दायित्व का अनुभव करे तो वहुत अच्छा समन्वय सध जाए। न किसी का खण्डन और न किसी का मण्डन। न किसी का तिरस्कार और न किसी को पुरस्कार। सबका अपना अपना काम और अपना अपना योग। इस योग के आधार पर हम साझेदारी की भावना को आगे वढ़ाए तो तुलनात्मक अध्ययन के सदर्भ मे एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकेगा।

ध्यान की विभिन्न धाराएं

योग का आदि - विन्दु

ध्यान की परम्परा बहुत प्राचीन है। उसका आदिस्रोत खोजना बहुत कठिन है। यह प्राग्-ऐतिहासिक है। उपलब्ध ग्रथो के आधार पर योग के आदि - विन्दु की कल्पना की जा सकती है। आदिनाथ को योग का प्रवर्तक वतलाया गया है।[1] 'आदिनाथ' यह नाम जैन और शैव—दोनो परपराओ मे प्रसिद्ध है। जैन परंपरा मे आदिनाथ भगवान् ऋषभ का नाम है और शैव परम्परा मे आदिनाथ शिव का नाम है। आधुनिक विद्वानो का अभिमत है कि ऋषभ और शिव—दोनो एक ही व्यक्ति हैं। वह दो भिन्न परपराओ मे दो नामो से प्रतिष्ठित हैं। आचार्य शुभचन्द ने ज्ञानार्णव के प्रारभ मे भगवान् ऋषभ की एक योगी के रूप मे वदना की है।[2] महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ योग का वेत्ता है। उससे पुराना कोई योगवेत्ता नही है।[3] साख्य योग परपरा मे हिरण्यगर्भ सगुण ईश्वर के रूप में मान्य रहा है। श्रीमद् भागवत मे भगवान ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[4] उन्होने नाना योग चर्याओ का चरण किया था।[5] सभव है उनके ऋषभ, आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—ये नाम प्रचलित थे।

---

1 हठयोग प्रदीपिका १/१

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

2 ज्ञानार्णव १/२

योगिकल्पतरुं नौमि, देवदेवं वृषध्वजम्।

3 महाभारत शान्तिपर्व अ ३४९/६५

हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः।

4 श्रीमद् भागवत ५/४/३

भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।

5 श्रीमद् भागवत ५/५/३५

नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभः।

प्राग् ऐतिहासिक काल में

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एक मात्र पति है।[1] किन्तु उससे यह स्पष्ट नही होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? शकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् मे ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है। कई विद्वानो का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वानो का कहना है कि वह ससारी है।[2] यह सदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[3] आत्म-विद्या सन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण मे हिरण्यगर्भ का अर्थ "ऋषभ" ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ मे थे, तव कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हे हिरण्यगर्भ भी कहा गया।[4]

हिरण्यगर्भ साख्य दर्शन मे मान्य सगुण ईश्वर या पुरुष विशेष है इसलिए प्रागू-ऐतिहासिक काल मे ध्यान परपरा का आदि बिन्दु भगवान ऋषभ, शैव और साख्य पद्धति मे खोजा जा सकता है।

ध्यान ऐतिहासिक काल में

ऐतिहासिक काल मे ध्यान परपरा के स्रोत साख्य, शैव, तत्र, बौद्ध, जैन और नाथ सप्रदाय मे उपलब्ध हैं। साख्य दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतजलि के योग-दर्शन मे मिलता है। वह ई पू दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-सस्कर्ता और योग-दर्शन के कर्ता महर्षि पतजलि एक ही व्यक्ति हैं। अत उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के वाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई पू. ३२२ से १८६ तक माना जाता है। मौर्य-वश का अंतिम राजा वृहद्रथ

1 ऋग्वद, १०/१०/१२१/१
हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधारपृथिवीं द्यामुतमा कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

2 वृहदारण्यकोपनिषद् १/४/६, भाष्य, प १८४
अत्र विप्रतिपद्यन्ते — पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। ससारीत्यपरे।

3 तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक् ६२, सायण भाष्य।

4 महापुराण, १२/९५
सैषा हिरण्मयी वृष्टि धनशेन निपातिता।
विभो हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितु जगत्।।

था। वह ई.पू १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई पू दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधनामार्ग अभिधम्मकोष (ई सन् पाचवी शताब्दी) और विशुद्धिमग्ग (ई सन् पाचवी शताब्दी) मे उपलब्ध है। आचारांग ई पू पाचवी शताब्दी की रचना है।

ध्यानः प्रतिनिधि ग्रंथ

पातजल योग दर्शन साख्य सम्मत ध्यान पद्धति का प्रतिनिधि ग्रथ है। अभिधम्म कोश और विशुद्धिमग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। आचाराग जैन साधना पद्धति और ध्यान पद्धति का मौलिक ग्रथ है। भगवान पार्श्व ध्यान पद्धति के उन्नायक थे। उनकी ध्यानपद्धति जैन शासन और बौद्ध-शासन—दोनो मे सक्रान्त हुई है। विपश्यना ध्यान आचाराग और विशुद्धिमग्ग-दोनो मे उपलब्ध है।

सांख्य साधना पद्धति

महर्षि पतजलि के योगदर्शन मे योग की व्यवस्थित पद्धति भी निरूपित है। उसकी अष्टाग योग प्रणाली मे योग बहिरग और अतरग – इन दो भागो मे विभक्त किया गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार – ये बहिरग योग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि – ये तीन अतरग योग हैं।[1] यह स्वीकार करने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि उपलब्ध ध्यान ग्रथो मे पातजल योगदर्शन सर्वांगीण और सुव्यवस्थित ग्रथ है। इसमे कुण्डलिनी योग और षट् चक्र का निरूपण नही है। बौद्ध ध्यान पद्धति मे भी उनका वर्णन नही है। तत्रशास्त्र, नाथ साधना पद्धति और हठयोग मे उनका निरूपण हुआ है।

तंत्र साधना

भारत मे तत्र की परपरा भी बहुत प्राचीन है। ईसा से पद्रह सौ वर्ष पूर्व तत्र विद्या भारत से बाहर जा चुकी थी। उत्तरकालीन बौद्धो ने तत्र को बहुत महत्त्व दिया। बौद्ध तत्र ने विपश्यना का स्थान ले लिया। तत्र प्रधान

---

1 [illegible]

बन गया। तत्र के प्रभाव से जैन परपरा भी अस्पृष्ट नही रह सकी। जैन आचार्यो ने भी तत्र पर विशाल साहित्य रचा।

चक्र और कुण्डलिनी

चक्र और कुण्डलिनी — ये ध्यान के बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। जैन ध्यान पद्धति मे इनका समावेश प्राचीन काल से रहा है। नाम भेद के कारण उसका आकलन नही किया जा सका। आगम साहित्य तथा उत्तरवर्ती प्राचीन साहित्य मे चक्र पद्धति का विशद वर्णन मिलता है।[1] जैन साहित्य मे तेजोलब्धि का अनेक स्थलो मे निरूपण हुआ है। यह तत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रथों में निरूपित कुण्डलिनी है।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य मे कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नही मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका प्रयोग मिलता है। वह तत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग मे कुडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलो के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।[2]

शैव परंपरा

शैव परपरा मे विज्ञान भैरव वहुत महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। उसमे ध्यान की सौ से अधिक पद्धतिया वतलाई गई हैं। उसके अनुभवी साधक कम मिलते हैं पर सकलन की दृष्टि से निश्चित ही वह विशिष्ट ग्रथ है।

वौद्ध ध्यान प्रणाली

भगवान् वुद्ध ध्यान - प्रधान साधक थे। उन्होने ध्यान पर अत्यधिक वल दिया। उन्होने आनापानसती और विपश्यना के विशेष प्रयोग किए।

---

1 मनन और मूल्याकन (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-७८-८४।
2 जैन योग (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-१५३।

ईसा की छठी शताब्दी में बोधिधर्म नाम के एक भिक्षु हुए। उन्होंने ध्यान सप्रदाय की स्थापना की। वह ध्यान सप्रदाय कोरिया और जापान मे भी फैला। भगवान बुद्ध ने अपने अगोचर सत्य और परम शुद्ध ज्ञान को महाकाश्यप के मन मे सप्रेषित किया। महाकाश्यप ने वह ज्ञान आनद के मन मे सप्रेषित किया। बुद्ध परपरा के अनुसार बुद्ध के उद्गम से निकलकर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमश महाकाश्यप और आनन्द मे होकर गुरु-शिष्य क्रम से निरन्तर बहती चली गई और भारत मे बोधिधर्म इसके अट्ठाईसवे और अन्तिम गुरु हुए। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थो मे इन अट्ठाईस धर्माचार्यों के नाम सुरक्षित हैं, जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार हैं—

१ महाकाश्यप	११ पुण्ययशस्	२१ वसुबन्धु
२ आनन्द	१२ अश्वघोष	२२. मनुर
३ शाणवास	१३ भिक्षु कपिमाल	२३. हक्लेनयशस्
४ उपगुप्त	१४ नागार्जुन	(या केवल हक्लेन)
५ धृतक	१५ काणदेव	२४ भिक्षु सिंह
६ मिच्छक	१६ आर्यराहुलक	२५ वाशसित
७ वसुमित्र	१७ सघनन्दी	२६ प्रज्ञातर
८ बुद्धनन्दी	१८ सघयशस्	२७ पुण्यमित्र
९ बुद्धमित्र	१९ कुमारिल	२८ बोधिधर्म
१० भिक्षु पार्श्व	२० जयत	

इस धारा के अनुसार बोधिधर्म अट्ठाईसवें और अन्तिम धर्मनायक हैं और वे चीन मे ध्यान सप्रदाय के प्रथम धर्म नायक हुए हैं।[1]

ईसा की छठी शताब्दी मे ही बौद्ध धर्म की तन्त्र शाखा का विकास हुआ। यह धीमे-धीमे बुद्ध के मार्ग से दूर हटती गई। इसने इन्द्रिय भोग का समर्थन शुरू कर दिया। ध्यान के स्थान पर मत्र का जप प्रधान बन गया।

1 ध्यान सम्प्रदाय डा० भरतसिंह उपाध्याय पृष्ठ १३-१४।

हठ योग

हठ योग तत्रशास्त्र, शैव साधना पद्धति और पातजल योग-दर्शन से प्रभावित है। गोरक्ष पद्धति मे योग के छ अग बतलाए गए – आसन, प्राण-सरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[1] हठयोग प्रदीपिका मे राजयोग के लिए हठविद्या की आवश्यकता बतलाई गई है।[2] हठविद्या का मूल नाथ-साधना पद्धति है।[3] उसमे नाथ सप्रदाय की परपरा दी गई है। उस परपरा मे आदिनाथ प्रथम हैं। दूसरा स्थान मत्स्येन्द्रनाथ का है।[4] हठयोग प्रदीपिका मे आसन को प्रथम स्थान दिया गया है।[5] हठयोग मे षट्कर्म, वध, मुद्रा आदि का विकास हुआ है।

नाथ संप्रदाय

नाथ सप्रदाय को कुछ विद्वान बौद्ध परपरा से अनुस्यूत मानते हैं। कुछ विद्वान् नाथ सप्रदाय का सवध जैन परपरा से जोडते हैं।

अव यह सिद्ध हो गया है कि नेमिनाथ की भारतीय लोक जीवन मे गहरी पैठ थी, यह तथ्य गोरखपंथियो मे अन्तर्भुक्त 'नीमनाथी' सप्रदाय से भी सिद्ध होता है। इस सदर्भ मे सन्त परम्परा मे प्रचलित 'सद्गुरु' शव्द है, यह जैनियो का शव्द है। इसका उनके अलावा और कही प्रयोग नही मिलता। जैन कवियो ने इसका प्रयोग किया है। हरिवश-पुराण में भीलो के श्रावक व्रत ग्रहण करने के वर्णन भी आए हैं।

नेपाल के 'पेन-पो' सप्रदाय पर अनुसधान होने से भी पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश पड सकता है। 'पेन-पो' पश्चिम नेपाल का एक

1. गोरक्ष पद्धति १/७ आसन प्राण-सरोध प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यान समाधि एतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्।।

2. हठयोग प्रदीपिका १/२ प्रणम्य श्री गुरु नाथ, स्वात्मारामेण योगिना।
केवल राजयोगाय, हठविद्योपदिश्यते।।

3 हठयोग प्रदीपिका १/४ हठविद्या हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादत।।

4. हठयोग प्रदीपिका १/५ श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्रशावरानदभैरव ।

5 हठयोग प्रदीपिका १/१७ हठस्य प्रथमागत्वादासन पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासन स्थैर्यमारोग्य चागलाघवम्।।

दिगम्वर संप्रदाय है। इसके मानने वाले ठाकुर कहलाते हैं। यह नग्न खड्गासनी मूर्तिया पूजते हैं। इनकी मान्यताए जैनियो से मेल खाती हैं। ईश्वर के कर्तृत्व पर इनकी आस्था नही है और ये विशुद्ध शाकाहारी हैं।[1]

'चादनाथ सभवत वह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होने गोरक्ष मार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरो के अनुयायी जान पडते हैं। जैन साधना मे योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।[2]'

जैन साधना पद्धति में आसन

जैन साधना पद्धति मे यम-नियम प्रारभ से ही मान्य हैं। आसन भी मान्य रहे हैं। बौद्ध साधना पद्धति मे आसनो के लिए कोई स्थान नही है, किन्तु जैन साधना पद्धति में उन्हे वहुत मूल्य दिया गया है। भगवान् महावीर स्वय अनेक आसनों का प्रयोग करते थे। उन्हे केवलज्ञान आसन की विशेप मुद्रा मे उपलब्ध हुआ था।[3] स्थानाग सूत्र मे निषद्या के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं[4]—

१ उत्कटुका — पुतो को भूमि से छुआए विना पैरो के वल पर वैठना।
२ गोदोहिका — गाय की तरह वैठना या गाय दुहने की मुद्रा में वैठना।
३ समपादपुता — दोनो पैरों और पुतो को छुआ कर वैठना।
४ पर्यंका — पद्मासन।
५ अधपर्यंका — अर्ध पद्मासन।

जैन आचार्यो ने कुछ शर्तों के साथ प्राणायाम को भी मान्य किया है।[5]

साधना की परंपराएं

ध्यान की तीन परपराए मिलती हैं। प्राचीनतम ध्यान पद्धति का नाम है

1 तीर्थंकर, नवम्बर १९७१, पृष्ठ ४-६।
2 नाथ संप्रदाय (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ ११०
3 आयारचूला १५/३८
4 ठाणं ५/५०
5 महावीर की साधना का रहस्य (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ २७०-२७८

— विपश्यना, पश्यना[1] या पासणिया[2]। दूसरी श्रेणी की ध्यान पद्धति है — धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, जिसका वर्णन स्थानांग मे विस्तार के साथ उपलब्ध है। श्वेताम्बर और दिगम्बर — दोनो परम्पराओ के साहित्य मे दीर्घकाल तक इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जबू — ये केवली हुए। केवली परपरा के विच्छिन्न होने के पश्चात् श्रुतकेवली की परपरा चली। चतुर्दश पूर्वी श्रुतकेवली कहलाते हैं। छ श्रुतकेवली हुए — प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र। भद्रबाहु ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी और यह माना जाता है कि चतुर्दश पूर्वी ही महाप्राण ध्यान की साधना कर सकता है। महाप्राण ध्यान के विषय मे यत्र-तत्र कुछ जानकारी है पर इसकी विशेष विधि का व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नही है।

ध्यान पद्धति कुछ आयाम

आचार्य कुन्दकुन्द की ध्यान पद्धति ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धोपयोग प्रधान थी। वह भी प्राचीन परपरा से अनुस्यूत है। पूज्यपाद का समाधितत्र भी उसी कोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हरिभद्र सूरि ने ध्यान की पद्धति को एक नया आयाम दिया। इस विषय मे योगविंशिका और योगदृष्टि समुच्चय — दोनो ग्रंथ द्रष्टव्य हैं। अन्य प्रचलित ध्यान पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन तथा जैन परिभाषा के साथ उसका सामञ्जस्य बिठाने मे उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुभचद्र के ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचद्र के योगशास्त्र मे तत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। उसमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन तथा पार्थिवी, वारुणी आग्नेयी, वायवी और तत्वरूपा — इन पाच धारणाओं का उल्लेख जैन ध्यान पद्धति के क्षेत्र मे नया सग्रहण है। पिछली आठ दस शताब्दियो में इन्ही का प्रयोग होता रहा। उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरि का अनुकरण किया है।

ध्यान विचार : महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

ध्यानविचार एक अज्ञातकर्तृक कृति है। उसमे ध्यान के चौवीस मार्ग,

1 पन्नवणा ३०/१२।
2 पन्नवणा ३०/१

वतलाए गए हैं – ध्यान, परमध्यान, शून्य, परमशून्य, कला, परमकला, ज्योति, परमज्योति, बिन्दु, परमबिन्दु, नाद, परमनाद, तारा, परमतारा, लय, परमलय, लव, परमलव, मात्रा, परममात्रा, पद, परमपद, सिद्धि, परमसिद्धि। प्रस्तुत ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे निवद्ध है। उसमे एतद्विषयक प्राकृत गाथा उद्धृत है।[1] उससे पता चलता है कि यह चौवीस ध्यान की परपरा ग्रन्थकाल से प्राचीन काल मे रही है। यह ग्रन्थ ध्यान की दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमे ध्यान के विविध मार्गों का समाहार है। ध्यान के इन चौवीस मार्गों का प्रयोग जैन परपरा मे कव से प्रारभ हुआ और कव तक होता रहा – इस वारे मे निश्चय पूर्वक अभी कुछ नही कहा जा सकता। यह विषय अन्वेषणीय है।

जपयोग

आनदघनजी और चिदानदजी जैसे कुछ योगी संत हुए हैं। उनकी साधना अध्यात्म-चिन्तन, जप, मत्र और स्वरोदय से प्रभावित रही है।

जैन परपरा में मत्र साधना के साथ साथ जपयोग का भी विकास हुआ है। उसका इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है।

ध्यान और जयाचार्य

ईसा की अठारहवी शताव्दी में जयाचार्य ने ध्यान पर कुछ लघु ग्रन्थ लिखे। पद्धति की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं[2]। ध्यान-विधि के सदर्भ मे जयाचार्य के कुछ निर्देश ये हैं–

---

1 ध्यान विचार पृ १ श्लोक १

सुन्नकलजोइबिन्दु, नादो तारा लओ लवो मत्ता।
पयसिद्धी परमजुया झाणाई हुंति चउवीसा।।

2 आराधना श्लोक (२-६) पृ ९५

धर आसन एकान्त रहि, प्राणायाम प्रसाधि।
भ्रूमध्य दृष्टि सुथाप मन, साधिय ध्यान समाधि।।

पद पर ध्यान पदस्थ पर "अर्हते" इत्यादीन।
निज मीलत दृग चिन्तवत उदासीन आसीन।।

स्थानरत– जन स्थान तज, तन मन स्थिर धर ध्यान।
जो दिन ऐसा जब हुवै, मिटत सब दुख-खान।।

मध्याह्न मध्य पर्व, प्रात समय निशि माय।
अवश्य नियम यदि न सुलभ, मिटिहै चित्त उपाय।।

अन्न पानादि समप्रमाण, [illegible] वचन नहु रोय।
[illegible] हरि सौं दुर्मति घर, धीरज चित होय।।

एकान्त स्थान में स्थिर आसन मे बैठे। प्राणायाम की साधना कर दृष्टि को भ्रूमध्य मे स्थापित कर ध्यान और समाधि का अभ्यास किया जाए।

पद पर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'अधुवे' इत्यादि पदो पर ध्यान किया जाए अथवा समभाव मे स्थिर होकर अपने मे बीती हुई दु.खद घटनाओ का चितन किया जाए।

आवागमन से शून्य स्थान मे शरीर और मन को स्थिर बना ध्यान किया जाए। वह दिन या वेला कब आएगी, जब दु.ख पैदा करने वाले मानसिक द्वन्द्व समाप्त होगे।

प्रात काल, मध्याह्न अथवा सध्या के समय ध्यान करने से निश्चित ही विषय की उपाधि मिट जाती है।

भोजन और वस्त्र आदि के ममत्व को छेद डाल, कठोर वचन सुनकर क्रोध मत कर, स्तुति मे हर्ष और निन्दा मे विषाद मत कर, चित्त को धृति में स्थापित कर।

प्रेक्षाध्यान और उसका प्राणतत्त्व

आचार्य श्री तुलसी की ध्यान के विषय मे एक कृति है—मनोनुशासनम्। उसमें पातजल योग दर्शन, आचार्य हेमचंद्र के योग-शास्त्र आदि का प्रभाव है किन्तु उस ग्रन्थ मे एक नया प्रस्थान है। योग की परिभाषा प्राचीन परिभाषाओ से भिन्न है, जैन साधना की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।[1] मनोनुशासनम् के बाद प्रेक्षाध्यान की पद्धति का विकास हुआ है। वह आचाराग की प्राचीनतम ध्यान परपरा के अधिक निकट है। इस पद्धति में हठयोग, विज्ञान आदि का भी उपयोग किया गया है किन्तु इसका प्राणतत्त्व आचाराग की प्रणाली है।[2]

1 मनोनुशासनम् १/११, १२
मनोवाक्-काय-आनापान—इन्द्रिय-आहाराणा निरोधो योग। शोधन च।

2. प्रेक्षाध्यान आधार और स्वरूप- (युवाचार्य महाप्रज्ञ)।

प्रेक्षा और विपश्यना

प्रेक्षा ध्यान का उद्देश्य है – आत्मा का साक्षात्कार, आत्म-दर्शन। मन की शांति, शारीरिक स्वास्थ्य और तनाव विसर्जन – ये प्रेक्षा ध्यान के परिणाम हैं। उसका मूल उद्देश्य है – चित्त की निर्मलता और आत्मा की अनुभूति।

ध्यान की दो प्रणालियां

आज ध्यान की बहुत सारी प्रणालियां प्रचलित हैं। प्रेक्षा ध्यान की प्रणाली उन सबसे कुछ भिन्न है। ध्यान की एक प्रणाली है विपश्यना। यह बौद्ध-ध्यान की प्रणाली है। प्रेक्षा जैन साधना की प्रणाली है। प्रेक्षा के प्रयोग भी चलते हैं, विपश्यना के प्रयोग भी चलते हैं। प्रेक्षा और विपश्यना– इन दोनों शब्दो का अर्थ एक है– देखना। लेकन इनकी पद्धति और दर्शन एक नही है। विपश्यना-ध्यान पद्धति का प्रयोग करने वाली एक बहिन ने कहा – 'महाराज! मैं विपश्यना के प्रयोगो मे जाती हू। विपश्यना मे और सब-कुछ ठीक है, उससे मन की शांति भी मिलती है पर उसमें आत्मा की बात नही है, आत्म-साक्षात्कार की बात नही है।' विपश्यना मे आत्मा की बात हो भी नही सकती क्योंकि जो बौद्धों की प्रणाली है, उसमे आत्मा की बात कैसे होगी? बुद्ध ने आत्मा को अव्याकृत कहा है। यह मूलभूत अन्तर है प्रेक्षा और विपश्यना में। यह एक ऐसा बिन्दु है, जिसमे प्रेक्षा और विपश्यना के आधारभूत अन्तर को समझा जा सकता है।

विपश्यना : दार्शनिक आधार

अनेक लोग कहते हैं–विपश्यना में आनापानसती और काय-विपश्यना का प्रयोग चलता है और प्रेक्षा ध्यान मे भी श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग हैं। इन दोनो मे अन्तर क्या है?

श्वास का प्रयोग विपश्यना मे भी है, प्रेक्षा मे भी है। अन्तर श्वास का नही है, अन्तर है दर्शन की पृष्ठभूमि का, दार्शनिक आधार का। जब तक हम उसके आधार को न समझ ले तब तक केवल प्रयोग के आधार पर समानता और असमानता की बात समझ मे नही आ पाएगी। प्रेक्षा ध्यान का आधार है जैन दर्शन और विपश्यना का आधार है बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दु ख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए तीन शर्ते हैं – अनित्य का ज्ञान, दु ख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनो का ज्ञान होने पर विपश्यना प्रगट होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है – क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। यह विपश्यना का एक मूल आधार है।

विपश्यना का दूसरा आधार है दु ख का ज्ञान। जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण – ये दु ख हैं। यह दु ख का ज्ञान विपश्यना का आधार तत्त्व है।

विपश्यना का तीसरा मूल आधार है – अनात्म का ज्ञान।

जब इस त्रिपदी का ज्ञान स्पष्ट होता है तब विपश्यना प्रगट होती है।

प्रेक्षा . दार्शनिक आधार

प्रेक्षा कब होती है? जब नित्यानित्य का ज्ञान होता है तब प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नही किया जा सकता। जैन दर्शन की भाषा मे जो सत् है वह त्रयात्मक है। नित्य और अनित्य – दोनो का ज्ञान, यह प्रेक्षा का पहला आधार है।

जैन दर्शन मे केवल दु खवाद का स्वीकार नही है। जितना स्थान दु ख का है उतना ही सुख का स्थान है। भगवान् महावीर ने जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग – इन चारो दु खो को स्वीकार किया है, साथ-साथ सुख को भी स्वीकार किया है। जैन दर्शन एकान्त दु खवादी नही है। पौद्‌गलिक सुख भी सुख है। साधना-काल मे भी सुख की अनुभूति होती है इसलिए सुखवाद भी मान्य है।

प्रेक्षा ध्यान का एक उद्देश्य है – निर्मोह होना। उसका एक उद्देश्य अज्ञान से मुक्त होना भी है। ज्ञानावरण से मुक्त होना है, सर्वज्ञ होना है। सर्वज्ञता भी जैन दर्शन मे मान्य है। प्रेक्षा ध्यान का मूल आधार है –

आत्मा का ज्ञान। जैन दर्शन आत्मवादी है, आत्मा को स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का ज्ञान नही होता, प्रेक्षा का प्रारभ ही नही होता।

जैन दर्शन मे कोरा अनित्यवाद मान्य नही है, कोरा दु खवाद मान्य नही है और अनात्मवाद सर्वथा ही मान्य नही है। इन तीन आधारो से प्रेक्षा और विपश्यना के मूल दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट है।

प्रेक्षाध्यान : प्राणतत्त्व

प्रेक्षाध्यान की पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का पहला विन्दु है कायोत्सर्ग – शरीर को त्यागना और उसका अन्तिम बिन्दु है कायोत्सर्ग–काया का निरोध, काया का उत्सर्ग। इसका तात्पर्य है भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग है और शरीर अलग है', 'आत्मा अलग है, पुद्गल अलग है', 'मैं आत्मा हू, मैं शरीर नही हू'–इसकी अनुभूति भेद-विज्ञान है। प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य वहा पहुचना है जहा पहुचने पर आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाए।

जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलता है। जैन दर्शन-का एक कदम भी आत्मा को छोडकर आगे नही बढ़ता। सारा आचारशास्त्र आत्मा पर आधारित है। एक साधक ने श्वास-प्रेक्षा की, श्वास के प्रकपनो का पता चला। शरीर-प्रेक्षा की, शरीर के प्रकम्पनो का पता चला किन्तु उसे कम्पनो मे ही नही अटकना है, अकप की ओर जाना है। इन प्रकम्पनों के बीच एक अप्रकप है, जो कभी कंपित नही होता, उसका साक्षात्कार करना है। यह बात बौद्ध दर्शन-सम्मत नही है क्योंकि उसमे आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नही है।

मौलिक अन्तर

बुद्ध ने कहा – दु.ख को मिटाओ, दु.ख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पडो। बुद्ध ने दु ख को मिटाने का सीधा मार्ग बताया। महावीर का मार्ग कुछ टेढ़ा है। महावीर ने कहा – वर्तमान मे जो सामने है, केवल उसी पर मत अटको, मूल तक जाओ। बुद्ध का दर्शन है – अग्र पर ध्यान केन्द्रित करो। महावीर का दर्शन है – केवल अग्र को मत पकडो, मूल तक जाओ, आत्मा तक जाओ। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन मे

यह मूलभूत अन्तर है।

विपश्यना पद्धति मन को शात करने के लिए है, राग-द्वेष को कम करने के लिए है, केवल जानने और देखने के लिए है। प्रेक्षाध्यान पद्धति मे मन को शान्त करने की बात मुख्य नही है। केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना साधन है, साध्य नही है। साध्य है आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा को जान लेना। प्रेक्षा और विपश्यना मे यह एक मौलिक अन्तर है – प्रेक्षाध्यान के साथ जुडा है—आत्म-साक्षात्कार का दर्शन और विपश्यना के साथ जुडा है – दु ख को मिटाने का दर्शन।

सन्दर्भ : श्वास प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना मे कुछ प्रयोग समान हैं। समानता का एक बिन्दु है श्वास-प्रेक्षा। श्वास का प्रयोग विपश्यना मे भी है, प्रेक्षा में भी है किन्तु उसकी प्रयोग-पद्धति मे अन्तर है। विपश्यना मे बल दिया जाता है सहज श्वास को देखने पर और प्रेक्षाध्यान मे बल दिया जाता है दीर्घ श्वास प्रेक्षा पर। विपश्यना मे अप्रयत्न मान्य है। प्रेक्षाध्यान मे प्रयत्न को भी मान्य किया गया है। यह निर्देश दिया जाता है—हम प्रयत्नपूर्वक लम्बा श्वास ले और श्वास की प्रेक्षा करे। इस दृष्टि से आनापानसती और श्वास प्रेक्षा की स्थूल अर्थ मे ही तुलना हो सकती है। एक ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घ श्वास का प्रयोग।

विपश्यना मे कहा जाता है – आयास मत करो, जो अनायास, सहज चल रहा है, उसकी विपश्यना करो, उसे देखो। प्रेक्षा मे आयास वर्जित नही है। प्रयत्न से श्वास को लबाना हमारी दृष्टि मे ज्यादा उपयोगी है। दीर्घ श्वास से अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक लाभ होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से लम्बा श्वास लेना (Long Breathing) बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

श्वास-संयम : समवृत्ति श्वास प्रेक्षा

दूसरा अन्तर है – श्वास-सयम का। विपश्यना मे कुभक का प्रयोग मान्य नही है। प्रेक्षाध्यान में कुम्भक का प्रयोग भी करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान में लयबद्ध श्वास को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। श्वास को लयबद्ध करने की एक प्रक्रिया है—पाच सैकेंड में श्वास लेना, पांच सैकेंड

भीतर रोकना, पाच सैकेंड मे बाहर निकालना और पाच सैकेंड बाहर रोकना — इस प्रकार बार-बार श्वास की आवृत्ति करना लयबद्ध श्वास है।

प्रेक्षाध्यान में समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का जो प्रयोग कराया जाता है, वह विपश्यना मे नही है। समवृत्ति श्वास प्रेक्षा की पद्धति है—दाए नथुने से श्वास ले, बाएं से निकाले, पुन बाए नथुने से श्वास ले, दाए नथुने से निकाले। चित्त और श्वास—दोनो साथ-साथ चले, निरन्तर श्वास का अनुभव करे।

चन्द्रभेदी श्वास का प्रयोग, सूर्यभेदी श्वास का प्रयोग, उज्जाई श्वास का प्रयोग—ये सारे प्रयोग प्रेक्षाध्यान को विपश्यना से पृथक् कर देते हैं। प्रेक्षाध्यान में केवल श्वास प्रेक्षा के पचास प्रकार के प्रयोग विकसित हुए हैं, जो सम्मत हैं, ज्ञात और मान्य हैं।

सन्दर्भ : आसन

विपश्यना मे आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना पद्धति मे आसन सम्मत नही है। भगवान् महावीर ने आसनो को बहुत महत्त्व दिया। डॉ० नथमल टाटिया बोद्ध-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् माने जाते हैं। उन्होने कहा — महाराज! प्रेक्षाध्यान मे आसन का प्रयोग करवाया जाता है। यह हठयोग से लिया गया है। मैंने कहा — डाक्टर साहब! आसन हठयोग से नही लिए गए हैं। भगवान् महावीर ने स्वय अनेक आसनो के प्रयोग किए हैं। महावीर को केवलज्ञान भी एक विशिष्ट आसन मे उपलब्ध हुआ। स्थानाग सूत्र मे आसनो के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। तपस्या का एक प्रकार है, काय-क्लेश—आसन का प्रयोग। मैंने विस्तार से इस बात को बतलाया—जैनो मे कहा-कहा आसन के संबध में क्या कुछ लिखा गया है। इस विषय पर चली लम्बी चर्चा के बाद डाक्टर टाटिया ने स्वीकार किया—आसन का प्रयोग किसी से लिया हुआ नहीं है, परम्परा से सहज प्राप्त है। डाक्टर टाटिया ने कहा — बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन की साधना प्रक्रिया मे यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बौद्धो मे आसन वर्जित रहे हैं और जैन दर्शन मे मान्य।

वस्तुत आसन कोई शरीर परिश्रम नही है। आसन साधना की एक

पद्धति है। वृत्तियो पर नियन्त्रण कैसे किया जाए? कर्मों की निर्जरा कैसे की जाए? इसका एक उपाय है आसन। इसके साथ-साथ आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है। जो व्यक्ति ध्यान करता है किन्तु आसन नही करता, वह कुछ हानिया भी उठाता है। ध्यान से पाचन तत्र गडबडा जाता है, अग्नि मद हो जाती है इसलिए ध्यान के साथ आसन का होना अत्यन्त जरूरी है।

संदर्भ : प्राणायाम

विपश्यना मे प्राणायाम का कोई स्थान नही है पर प्रेक्षाध्यान मे प्राणायाम का बडा महत्त्व है। प्राणायाम प्राण-नियन्त्रण के लिए बहुत आवश्यक है। जब तक प्राण पर नियन्त्रण नही होता तब तक चचलता पर नियन्त्रण नही हो सकता। हठयोग मे प्राणायाम को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। प्रेक्षाध्यान पद्धति मे भी उसका पर्याप्त महत्त्व है। प्रेक्षाध्यान शिविरो मे प्राणायाम का प्रयोग भी करवाया जाता है।

सन्दर्भ मौन

विपश्यना मे मौन का प्रयोग काफी कडाई से करवाया जाता है। उसमें दस दिन पूर्ण मौन का प्रयोग होता है। प्रेक्षाध्यान मे मौन पर इतना बल नही दिया जाता। हम उसे अनिवार्य नही मानते। हम यह चाहते हैं—प्रेक्षाध्यान शिविर की एक ऐसी सामान्य पद्धति रहे, जिसे शिविर के बाद भी जीवन-भर जिया जा सके। मौन का एक-दो घटे का प्रयोग सम्यक् रूप से हो सकता है पर निरन्तर दस दिन तक मौन रहना एक सामान्य आदमी के लिए समस्या है। प्रेक्षा शिविरो में यह निर्देश दिया जाता है — अनावश्यक बातचीत न करे, आवश्यकता होने पर ही बोले। मौन करें तो उसका सही अर्थ मे पालन करें। ऐसा न हो कि मौन भी करे और उसमे इतने इशारे, सकेत कर ले, जिससे मौन का भी उपहास हो जाए।

विपश्यना के प्रकार

विपश्यना के कई प्रकार हैं—आनापानसती, काय विपश्यना, धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किन्तु वर्तमान मे विपश्यना का जो क्रम चल रहा है, उसमे मुख्य रूप से दो प्रयोग करवाए जाते हैं—आनापानसती—श्वास-प्रश्वास को देखना और काय विपश्यना —

शरीर को देखना। जहा तक हमने जाना है, इन दो प्रयोगों के अलावा विपश्यना पद्धति में तीसरा प्रयोग नही चल रहा है।

सन्दर्भ : चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना मे मूलभूत रेखा खीचने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह प्रयोग भी विपश्यना में नही है और शायद इसलिए नही है कि उसमे किसी एक स्थान पर टिकना पसद नही किया जाता। उसमें पूरे शरीर को देखते चले जाते हैं, कही रुकते नही हैं। यदि हम शरीर को देखते चले जाएगे तो धारणा होगी पर ध्यान नही होगा। हम इसे इस भाषा मे समझे—बछडा आगन में उत्पात मचा रहा है। उसे पकडकर एक खूटे से बाध दिया तो वह ज्यादा कूद-फाद नही कर पाएगा। इसका नाम है धारणा। वह बछडा आसपास में ही चक्कर लगाएगा जब वह थक जाएगा, तब वही बैठ जाएगा। यह है ध्यान। ध्यान का मतलब है-चित्त को एक स्थान पर टिका देना। मन को एक स्थान पर टिकाया और मन लम्बे समय तक उसी विषय पर टिका रहा, मन शान्त हो गया, यही है ध्यान।

ध्यान का अंग है धारणा

हमारे दृष्टिकोण मे श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा—दोनों धारणा के प्रकार हैं। ध्यान शुरू होता है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा से। किसी एक चैतन्य केन्द्र पर ध्यान शुरू किया, यह धारणा है। आधा घटा तक उसी केन्द्र पर चित्त केन्द्रित बना रहा तो वह ध्यान हो गया। जब हम ध्यान करते हैं तब प्रारम्भ मे धारणा होती है। एक बिन्दु पर धारणा होते-होते चित्त उस पर एकाग्र बन जाता है, तब ध्यान हो जाता है। यद्यपि ध्यान का ही एक अंग है धारणा। जब धारणा पुष्ट होती है तब वह ध्यान मे परिणत हो जाती है। एक सूत्र है — धारणा को बारह से गुणा करो, वह ध्यान बन जाएगा। ध्यान को बारह से गुणा करो, वह समाधि बन जाएगी।

दृष्टान्त की भाषा

पहले हम धारणा करे, एक स्थान पर चित्त को केन्द्रित करे। जैसे-जैसे वह सघन होगी, ध्यान घटित होता चला जाएगा। दृष्टान्त की भाषा है—दूध है, उसमे जामन दिया, उसमें समय लगता है। जामन दिया गया,

दूध गाढा बन गया, दही बन गया, यह है ध्यान। दूध है चचलता, जामन है धारणा और दही है ध्यान। चैतन्य केन्द्र का ध्यान धारणा से प्रारम्भ होता है। हम बीस मिनट, आधा घंटा या उससे अधिक उस पर टिके रहे तो वह ध्यान बन जाएगा।

भेद : प्रथम कारण

यह मान लेना चाहिए—प्रेक्षा और विपश्यना मे भेद का आदि-बिन्दु है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह भेद का प्रथम कारण है। हम कारण पर विमर्श करे। बौद्ध दर्शन मे आत्मा कोई तत्व नही है। उसमे आत्मा को देखने की वात नही है। जो लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें विपश्यना से वह प्राप्य नही हो सकता। विपश्यना से आत्म-दर्शन की आशा पूरी नही होगी। जो आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उनके लिए चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा करना जरूरी है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के जिन-जिन स्थानो पर चेतना सघन रूप मे केन्द्रित है, उन-उन स्थानों पर ध्यान करना। यदि हम चैतन्य केन्द्रो पर लंबे समय तक ध्यान करेंगे तो चेतना की अनुभूति जल्दी होगी।

मर्म स्थान : चैतन्य केन्द्र

आयुर्वेद के अनुसार शरीर मे बहुत-से ऐसे मर्मस्थान हैं, जहा चोट लगते ही आदमी मर जाए। कण्ठ एक मर्मस्थान है। यदि उस पर गंभीर चोट लगे तो आदमी तत्काल मर जाए। सुश्रुत संहिता मे ऐसे सौ से अधिक मर्मस्थान वतलाए गए हैं। इन मर्मस्थानो को चैतन्य केन्द्र कहा जा सकता है।एक्यूपक्चर और एक्यूप्रेशर की पद्धति मे सात सौ बिन्दु (Points) खोज लिए गए हैं। चेतना के ये सारे केन्द्र हमारे शरीर मे हैं। यह समुद्र या नदी के पानी की गहराई है। इन केन्द्रों पर ध्यान करेंगे तो चेतना को पकडने वहुत मदद मिलेगी। यह चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग उसी दर्शन या व्यक्ति को मान्य हो सकता है, जो स्पष्टत आत्म-दर्शन की भावना रखता है।

प्रेक्षाध्यान . मौलिक अवदान

प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनेक स्वतन्त्र प्रयोग भी विकसित किए गए हैं। लेश्याध्यान, अनिमेष प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, एकाग्रता और सकल्प-शक्ति के

विशेष प्रयोग आदि-आदि प्रेक्षाध्यान के अपने मौलिक अवदान हैं। एक प्रेक्षाध्यान शिविर मे अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। केवल लेश्याध्यान के पचासो प्रयोग विकसित किए जा चुके हैं। विभिन्न चैतन्य केन्द्रो पर विभिन्न रगों के साथ प्रेक्षा के जो प्रयोग विकसित हुए हैं, वे किसी भी पद्धति मे प्रचलित नही हैं, प्राप्त नही हैं।

सन्दर्भ . स्वाध्याय और जप

यह एक सचाई है—सब व्यक्तियों की रुचि एक समान नही होती, क्षमता एक समान नही होती। वहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जो ध्यान को पकड ही नही पाते। उन्हे प्रारम्भ मे जप का प्रयोग करवाया जाता है। जो जप को पकड लेता है, वह ध्यान में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। विपश्यना में मत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षाध्यान मे स्वाध्याय का महत्त्व भी स्वीकृत है। आसन-प्राणायाम, जप आदि से साधना का क्रम शुरू होना चाहिए। यह साधना का आदि-चरण है। साधना का अग्रिम चरण है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्याध्यान।

सन्दर्भ. अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का सहवर्ती प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के सारे प्रयोग चिन्तन के प्रयोग हैं। ध्यान मे चितन का समावेश होना भी जरूरी है। विचय ध्यान की पूरी प्रक्रिया चिन्तनात्मक ध्यान की प्रक्रिया है। जो वदलाव चाहते हैं, उनके लिए अनुप्रेक्षा और संकल्प का प्रयोग करना जरूरी हें। पश्चिमी वैज्ञानिक सजेशन और ऑटो-सजेशन के प्रयोग करवाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र मे वे प्रयोग काफी सफल हुए हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग सजेस्टोलॉजी के प्रयोग हें। यह सुझाव के द्वारा आदतो मे परिवर्तन लाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान का यह विशिष्ट प्रयोग है।

अपना-अपना दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान पद्धति का समग्र आकलन करने पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत होता है, वह यह है—प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और समृद्ध पद्धति है। यह किसी भी पद्धति का अनुकरण नही है। कभी-कभी प्रेक्षाध्यान पद्धति की समालोचना करते हुए कहा जाता है—कुछ इधर से ले लिया, कुछ उधर से

ले लिया और एक विकृत पद्धति का निर्माण कर दिया गया। कुछ लोग यह भी कहते हैं—सब कुछ विपश्यना से ले लिया, केवल नाम बदल कर 'प्रेक्षा' कर दिया। प्रेक्षा मे सब-कुछ वही है, जो विपश्यना मे है। एक तथाकथित भगवान् ने भी यही कहा—सब-कुछ हमसे लिया, केवल नया नामकरण कर अपने नाम से प्रचारित कर दिया। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।

दृष्टिकोण एकांगी नहीं है

हमारा दृष्टिकोण एकागी नही है। एकागी दृष्टिकोण से किसी बात को पकडा नही जा सकता। हमारा दृष्टिकोण रहा—जैसे स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित भोजन होना चाहिए वैसे ही साधना के प्रयोगों मे भी सन्तुलन होना चाहिए। शरीर, प्राण और मन को साधने वाले प्रयोग तथा चेतना को विकसित करने वाले प्रयोग—दोनो का सन्तुलन होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान हमारे इसी दृष्टिकोण की निष्पत्ति है। यह आश्चर्य है कि हम किसी की आलोचना मे नही जाते फिर भी पता नही, कुछ वीतरागता की बात करने वाले साधक प्रेक्षाध्यान की आलोचना मे क्यो उलझे हुए हैं?

विकसमान पद्धति

सच तो यह है – श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग बहुत लम्बे समय से चल रहे हैं। गोयनकाजी पहली बार बैंगलोर मे मिले थे। उससे पूर्व कई ध्यान शिविर भी आयोजित हो चुके थे। हम विकासशील पद्धति मे विश्वास करते हैं। प्रारभ मे हम आसन-प्राणायाम, कायोत्सर्ग, श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग करते थे किन्तु किसी पद्धति का विधिवत् रूप से निर्धारण नही हो पाया था। जयपुर मे इस पद्धति का नामकरण 'प्रेक्षाध्यान' किया गया। उसके बाद इसमे चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग जुडा। कालान्तर में लेश्याध्यान के प्रयोग आविष्कृत हुए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग भी बाद मे निर्धारित किए गए। बौद्धो में अनुप्रेक्षा की कोई व्यवस्था नही है। बौद्ध दर्शन मे दस अनुस्मृतिया हैं पर उसमे बारह अनुप्रेक्षाए व्यवस्थित नही हैं। इस प्रकार प्रेक्षाध्यान के सारे प्रयोग स्वतत्र बन जाते हैं। उनका विकास भी स्वतत्र ही हुआ है। विकास के अनके चरणों को स्पर्श करते हुए प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण पद्धति के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है और आज भी वह विकसमान बनी हुई है।

प्रेक्षाध्यान और निर्विचार ध्यान

इस शताब्दी मे ध्यान पर विचार करने वाले अनेक मनीषी हुए हैं। अनेक प्रकार के ध्यान विकसित हुए हैं। उन सबमे किसी को गभीर और एक स्थितप्रज्ञ जैसा कहा जा सके तो श्री कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने इस विषय को जितनी गहराई से पकडा है, उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुचे हैं। ध्यान पद्धतियो के कुछ सस्कर्ता एक प्रकार से प्रचार-प्रसार मे रस लेने वाले और राजनीति के परिपार्श्व मे परिक्रमा करने वाले लोग रहे हैं। कृष्णमूर्ति ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होने गहराई का स्पर्श किया है, भीतर गहरे मे पैठ की है।

कृष्णमूर्ति का मंतव्य

श्री कृष्णमूर्ति का मानना था— मन सब जगह व्याप्त है। जहा-जहा मन की व्याप्ति है वहा न ध्यान हो सकता है, न धर्म हो सकता है। मन आत्मा के बारे मे सोच रहा है, ईश्वर के बारे मे सोच रहा है या शराब के बारे मे सोच रहा है। श्री कृष्णमूर्ति की दृष्टि मे इसमे कोई फर्क नही है। जहा मन का खेल है, वहा कुछ भी हो सकता है। जहा मन से परे चले जाए, मन का खेल खेलना बन्द कर दे, वहा सत्य उपलब्ध होगा, सत्य की अनुभूति होगी और वह वास्तविक होगी।

अतीत, वर्तमान और भविष्य — सारा मन का खेल है। हम कालातीत हुए बिना मन के खेलो से परे नही जा सकते। जब तक काल से बधे रहेगे, तब तक मन के खेल खेलते रहेगे। अतीत की स्मृति मन का खेल है। वर्तमान का चिन्तन और भविष्य की कल्पना— सब कुछ मन का खेल ही खेला जा रहा है। मन से परे होने, मनोतीत अवस्था मे जाने का अर्थ है कालातीत अवस्था मे जाना। जहा मन समाप्त होता है वहा कोई काल नही है। मन नही है तो स्मृति नही होगी। अतीत से सबध छूट जाएगा। मन नही है तो चिन्तन भी नही होगा। हम वर्तमान की पकड से

मुक्त हो जाएगे। मन नही है तो भविष्य की कल्पना भी नही होगी। हम भविष्य की कारा में बदी नही रहेगे।

ध्यान की पराकाष्ठा

यह एक दृष्टिकोण है। इसमे काफी गहरे जाने का यत्न किया गया है। यह आत्मा की स्थिति है, इसमे कोई सदेह नही है। जब व्यक्ति आत्मानुभूति के क्षण मे चला जाता है, आत्मा तक चला जाता है, तब न चिन्तन रहता है, न स्मृति और न कल्पना होती है। जो व्यक्ति वीतरागी या ज्ञानी बन गया, वह कभी स्मृति, कल्पना और चिन्तन नही करता। यह स्थिति साक्षात्कार की है। जहा दर्शन या साक्षात्कार हो जाए, सत्य के साथ सीधा सम्पर्क हो जाए, वहा तीनों काल समाप्त हो जाते हैं। केवली के लिए अतीत और भविष्य क्या होगा? कैवल्य कालातीत स्थिति की उपलब्धि है।

विचार की भूमिका

नि.सदेह यह ध्यान की पराकाष्ठा की स्थिति है। हम इस पर प्रेक्षा ध्यान की दृष्टि से विचार करे। हम अनेकान्त की दृष्टि से विचार करते हैं इसलिए किसी पक्ष को गलत नही कह सकते किन्तु उसे एक पक्ष ही मान सकते हैं। ध्यान का एक पहलू यह हो सकता है, किन्तु उसका दूसरा पहलू नही है, ऐसा नही माना जा सकता। साक्षात्कार की भूमिका मे व्यक्ति सीधा चला जाए, यह सबके लिए सभव नही है। शक्ति और क्षयोपशम का तारतम्य इतना है कि विचार की भूमिका भी एक नही बन पाती। कृष्णमूर्ति ने सब-कुछ विचार की भूमिका से देखा। हम भावना की भूमिका को भी छोड नही सकते। विचार को पैदा कौन करता है? विचार अपने आप पैदा नही होता। भाव और मन – दोनो जुडे हुए हैं। भाव प्रभावित होगा तो मन प्रभावित हो जाएगा।

भाव और मन

इसमे कोई सदेह नही है कि जो मन एक क्षण पहले अच्छा सोचता है, वह दूसरे क्षण मे बुरा भी सोचने लग जाता है। इस स्थिति मे मन का अस्तित्व कहा रहा? हवा बहती है। यदि हम कहें– हवा ठण्डी है तो सापेक्ष सत्य होगा। थोडी-सी गर्मी आएगी, हवा गर्म हो जाएगी। यदि

हम कहे— हवा गर्म है तो यह भी सापेक्ष-सत्य होगा। हवा फिर ठण्डी हो जाती है। हर मौसम के साथ हवा का रूप वदलता रहता है। वह कभी गर्म हो जाती है, कभी ठण्डी हो जाती है। गर्मी होती है तो व्यक्ति ऊनी वस्त्र भीतर रख देता है। सर्दी अधिक होती है तो ऊनी वस्त्र वाहर निकाल लेता है। हवा अपने आप में न ठण्डी है और न गर्म। मन की भी यही वात है। मन न अपने आप मे अच्छा सोचता है, न बुरा सोचता है। जैसा भाव जागृत होता है, मन की क्रिया वैसी ही बन जाती है। अच्छे भाव का प्रवाह आता है तो मन अच्छा सोचने लग जाता है। वुरे भाव का प्रवाह आता है तो मन वुरा सोचने लग जाता है। हम केवल मन को न पकडे, विचार को न पकडे। मन और विचार का स्तर सतही है। अन्तर का जो स्तर है, वह कुछ और है।

अमन की भूमिका

श्री कृष्णमूर्ति ने भी मन को दो भागों में विभक्त किया है। एक है वाहरी मन, दूसरा है छिपा हुआ मन। जव तक हम वाहरी मन को पकडेगे तव तक कुछ नही होगा। जव छिपा हुआ मन पकड में आ जाएगा तव हम भावना के स्तर पर पहुच जाएगे। इस स्थिति मे पहुचने पर ही प्रेक्षा की वात समझ मे आ सकती है।

प्रेक्षाध्यान मे निर्विचार ध्यान सर्वथा सम्मत है। हमारा लक्ष्य है— निर्विचार को उपलब्ध होना, मन से अमन की भूमिका में चले जाना। अमन शव्द प्रेक्षाध्यान मे वहुत व्यवहृत हुआ है। यह आगम-सम्मत शव्द है। जैन आगम स्थानाग सूत्र में दो स्थितिया वतलाई गई हैं— एक है मन की स्थिति और दूसरी है अमन की स्थिति। मन कोई स्थायी तत्त्व नही है। वुद्धि हमारा स्थायी तत्त्व है। जव-जव हम मन की भूमिका मे चलते हैं तव दोनों प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छा विचार भी आ सकता है, वुरा विचार भी आ सकता है। जव हम अमन की भूमिका मे चले जाते हैं तव आत्मा की सन्निधि मे चले जाते हैं। वहां पूर्ण अप्रमाद और एकाग्रता की स्थिति वनती है।

निर्विकल्प चेतना और प्रेक्षा

विचार से निर्विचार की स्थिति तक पहुंचने का एक क्रम होता है। हम.

एक साथ विचार से निर्विचार मे कैसे चले जाएगे? किसी व्यक्ति मे यह शक्ति हो सकती है कि वह ध्यान मे बैठे और विचार समाप्त हो जाए। सबके लिए यह संभव नही है। समाधान यही है– जब भी हमारे मन मे बुरा विचार आए, हम अच्छे विकल्प की ओर अपना ध्यान मोड दे, कुछ ही देर मे बुरा विकल्प समाप्त हो जाएगा। हम बुरे विकल्प को अच्छे विकल्प में बदल दे लेकिन यह ध्यान निरन्तर बना रहे– विकल्प से निर्विकल्प स्थिति तक पहुचना है। जब तक देखने का अभ्यास नही होता, विचार-मुक्त स्थिति का निर्माण सभव नही बनता।

देखना और सोचना– दो तत्त्व हैं। हम मनस्वी हैं। इसलिए सोचना जानते हैं पर देखना नही जानते। प्रेक्षाध्यान का मतलब है देखना। जब देखेगे तब साक्षात्कार होगा। जब सोचेंगे तब बौद्धिक तर्क पैदा होगे। जहां वस्तु के साथ सीधा सम्पर्क होता है, वहा देखना होता है। जितने झगडे हैं, विचारो के झगडे हैं। साक्षात्कार मे कोई झगडा नही है। विवादो की मूल जड है सोचना-विचारना।

प्रेक्षाध्यान . निर्विचार ध्यान

इस सारे परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर जो निष्कर्ष आता है, वह यही है– मन के खेलो से परे चले जाना ही ध्यान है। जब हम आत्मा के सन्निकट चले जाते हैं, मन की भूमिका समाप्त हो जाती है। जब तक हम मन की भूमिका पर जिएगे तब तक लाभ मे खुशी और अलाभ में शोक उत्पन्न होता रहेगा। यह स्थिति तब समाप्त होती है जब हम मन से अमन की भूमिका मे चले जाते हैं। यह सचाई है– जितने प्रभाव होते हैं, सारे मन पर होते हैं। मुद्‌गशैल पाषाण पर कोई प्रभाव नही होता। जो अप्रभावित अवस्था है, वह अमन की अवस्था है। इस अवस्था को उपलब्ध होने का श्री कृष्णमूर्ति ने जो दर्शन प्रस्तुत किया है, वह प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ मे महत्त्वपूर्ण है। समान लक्ष्य की ओर ले जाने वाली इन दोनो पद्धतियों का प्रायोगिक क्रम एक नही है। इतना अन्तर होते हुए भी लक्ष्य की अवधारणा मे जो साम्य है, वह प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान के क्षेत्र मे विशिष्ट एव अलौकिक उपलब्धि के लिए उत्प्रेरित करता है।

प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान

मूल्य है उपयोगिता का

हमारी दुनिया मे जितने भी उपयोगी साधन हैं, उनकी सख्या मे वृद्धि हुई है। यह नियम है—जो भी अच्छी चीज हुई, उसकी संख्या मे वृद्धि होती चली गई। यह आज से नही, आदिकाल से चला आ रहा नियम है। अनाज भी कई प्रकार के बढ़े हैं, फल भी कई प्रकार के बढ़े हैं, कपडे भी कई प्रकार के बनते जा रहे हैं। लक्ष्य एक है—भूख मिट जाए, सर्दी-गर्मी से बचाव हो जाए। लक्ष्य एक होने पर भी प्रकार अलग-अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-सस्कर्ता हो जाते हैं। ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उससे महसूस हुआ—ध्यान उपयोगी है, मूल्यवान् है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। जब कभी ध्यान का प्रचलन हुआ तब उसकी एक ही शाखा रही होगी। धीरे-धीरे उसकी अनेक शाखाएं चल पडी। आज सैकडो-सैकडो ध्यान की पद्धतिया चल रही हैं।

भावातीत ध्यान

ध्यान की एक शाखा है भावातीत ध्यान। सक्षेप मे इसे टी एम कहा जाता है। इसके संस्कर्ता महर्षि महेश योगी हैं। वे अमेरिका आदि अनेक देशों में रहे हैं और इसका बहुत प्रचार किया है। प्रचार के साथ एक विशेष बात यह की—इस ध्यान पद्धति को वैज्ञानिक परीक्षण में लगा दिया। वैज्ञानिक परीक्षणो के परिणाम भी आए। काफी साहित्य भी लिखा गया।

हम प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान — इन दोनों पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि मे देखें। भावातीत ध्यान का वैज्ञानिक साहित्य तो बहुत

है किन्तु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। इसके प्रशिक्षको की सख्या काफी है। अनेक भावातीत ध्यान के प्रशिक्षक प्रेक्षाध्यान के शिविरो मे भी महीनो तक रहे हैं। उनसे बात करने पर पता चला—भावातीत ध्यान मे एक मत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मन्त्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है, भावना से अतीत होकर गहरी एकाग्रता मे चला जाता है। भावातीत ध्यान के सदर्भ मे इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने को नही मिला।

कठिन है शून्य को जानना

मन्त्र जप के प्रयोग का नाम रखा गया है भावातीत ध्यान। भावातीत को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है—क्या जप द्वारा यह संभव है? जप केवल उच्चारण ही नही है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करे और उसे विराम देते चले जाए। इस स्थिति मे हो सकता है—एक नमस्कार मन्त्र गिनने मे एक मिनट लग जाए, दो मिनट लग जाए। जितना विराम देगे, अन्तराल बढ़ता चला जायेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण होता है शून्य रहना। खाली रहने वाली बात समझ मे आए तब जप ठीक होता है। भरे हुए को जानना कठिन नही है। कठिन है शून्य को जानना। हम श्वास को भी देखते हैं। श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास आने और जाने के बीच के अन्तराल को (शून्य को) पकडे। यह मर्म की बात है।

भावातीत चेतना : समाधि

ध्यान के हर क्षण मे शून्य को पकडना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया विश्राम लेती है। उस विश्राम के क्षण को पकडना महत्त्व की बात होती है। ध्यान और जप के सन्दर्भ मे भी यही बात है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है खाली रहना। हम जितना अन्तराल देना सीखेंगे उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जायेगा। व्यक्ति भावातीत बनता है अन्तराल के कारण। जैसे-जैसे जप आगे बढ़ेगा, अन्तराल आगे बढ़ता चला जाएगा। एक बार मन्त्र जपा और पाच सैकण्ड बिल्कुल निर्विकल्प

रहें। यह अवस्था बढती चली जाए, जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है—शव्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शव्द और विचार का आलंवन लिया जाता है, वह निर्विचार मे वदल जाता है, शव्द और विचार छूट जाते हैं, केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। हम प्रेक्षाध्यान में अर्हं का जप करवाते हैं। जप करते-करते 'अर्हं' शव्द छूट जाता है, 'अर्हं' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि मे चला जाता है। यही भावातीत ध्यान है, हमारी भावातीत चेतना है।

जप का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान में जप सम्मत है, अस्वीकृत नही है। एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग वहुत जरूरी होता है। जप और भावना—दो नही हैं। इसे तन्मयध्यान भी कहा जा सकता है—साध्यमय हो जाना, साधक और साध्य का भेद न रहना। यह गुण-संक्रमण का सिद्धान्त है—ध्येय को अपने आप में सक्रान्त कर देना। अगर हम गरुड का ध्यान करें तो स्वयं में गरुड की अनुभूति करें। जिसका ध्यान करें, अपने आपमे उस स्थिति का अनुभव करना, तन्मय ध्यान, तद्रूप ध्यान, समापत्ति या भावना है। ये भावना के प्रयोग हैं। 'तद् जपः तदर्थभावनम्'। अर्हं का जप करते समय अर्हंमय हो जाना, यह भावना है और यही जप है। इसमें वह क्षण भी आ सकता है कि अपरिमित आनन्द आने लग जाए, शक्ति अपरिमित जाग जाए और हमारा परिणमन वैसा होने लग जाए।

शव्द की शक्ति

प्रेक्षाध्यान में जप का यह प्रयोग भी कराया जाता है। शव्द और अशव्द— ये दोनों पद्धतिया जिस ध्यान में नही होती, हमारी दृष्टि मे ध्यान की वह पद्धति पूर्ण नही है। शव्द हमारा वहुत विकास करने वाला है। शव्द के अभाव में विकास रुक जायेगा। शव्द या सुरता एक ही वात है। कवीर ने सुरता का वहुत प्रयोग किया है। मन्त्र निर्माता जानता है कि किन शव्दो का गठन होना चाहिए? मन्त्र में शव्द का अर्थ गौण होता है, केवल शव्द की शक्ति होती है। गठन का आधार रहता है, प्रकपन।

है किन्तु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। इसके प्रशिक्षको की सख्या काफी है। अनेक भावातीत ध्यान के प्रशिक्षक प्रेक्षाध्यान के शिविरो मे भी महीनो तक रहे हैं। उनसे बात करने पर पता चला—भावातीत ध्यान मे एक मत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मन्त्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है, भावना से अतीत होकर गहरी एकाग्रता मे चला जाता है। भावातीत ध्यान के संदर्भ मे इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने को नही मिला।

कठिन है शून्य को जानना

मन्त्र जप के प्रयोग का नाम रखा गया है भावातीत ध्यान। भावातीत को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है—क्या जप द्वारा यह सभव है? जप केवल उच्चारण ही नही है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करे और उसे विराम देते चले जाए। इस स्थिति में हो सकता है—एक नमस्कार मन्त्र गिनने मे एक मिनट लग जाए, दो मिनट लग जाए। जितना विराम देगे, अन्तराल बढ़ता चला जायेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण होता है शून्य रहना। खाली रहने वाली बात समझ मे आए तब जप ठीक होता है। भरे हुए को जानना कठिन नही है। कठिन है शून्य को जानना। हम श्वास को भी देखते हैं। श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास आने और जाने के बीच के अन्तराल को (शून्य को) पकडे। यह मर्म की बात है।

भावातीत चेतना : समाधि

ध्यान के हर क्षण मे शून्य को पकडना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया विश्राम लेती है। उस विश्राम के क्षण को पकडना महत्त्व की बात होती है। ध्यान और जप के सन्दर्भ में भी यही बात है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है खाली रहना। हम जितना अन्तराल देना सीखेगे उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जायेगा। व्यक्ति भावातीत बनता है अन्तराल के कारण। जैसे-जैसे जप आगे बढ़ेगा, अन्तराल आगे बढ़ता चला जाएगा। एक बार मन्त्र जपा और पाच सैकण्ड बिल्कुल निर्विकल्प

रहें। यह अवस्था बढ़ती चली जाए, जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है—शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शब्द और विचार का आलबन लिया जाता है, वह निर्विचार में बदल जाता है, शब्द और विचार छूट जाते हैं, केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। हम प्रेक्षाध्यान में अर्हं का जप करवाते हैं। जप करते-करते 'अर्हं' शब्द छूट जाता है, 'अर्हं' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि मे चला जाता है। यही भावातीत ध्यान है, हमारी भावातीत चेतना है।

जप का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान मे जप सम्मत है, अस्वीकृत नही है। एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग बहुत जरूरी होता है। जप और भावना—दो नही हैं। इसे तन्मयध्यान भी कहा जा सकता है—साध्यमय हो जाना, साधक और साध्य का भेद न रहना। यह गुण-सक्रमण का सिद्धान्त है—ध्येय को अपने आप मे सक्रान्त कर देना। अगर हम गरुड का ध्यान करे तो स्वय मे गरुड की अनुभूति करे। जिसका ध्यान करे, अपने आपमे उस स्थिति का अनुभव करना, तन्मय ध्यान, तद्रूप ध्यान, समापत्ति या भावना है। ये भावना के प्रयोग हैं। 'तद् जप. तदर्थभावनम्'। अर्हं का जप करते समय अर्हमय हो जाना, यह भावना है और यही जप है। इसमें वह क्षण भी आ सकता है कि अपरिमित आनन्द आने लग जाए, शक्ति अपरिमित जाग जाए और हमारा परिणमन वैसा होने लग जाए।

शब्द की शक्ति

प्रेक्षाध्यान मे जप का यह प्रयोग भी कराया जाता है। शब्द और अशब्द— ये दोनो पद्धतिया जिस ध्यान मे नही होती, हमारी दृष्टि मे ध्यान की वह पद्धति पूर्ण नही है। शब्द हमारा बहुत विकास करने वाला है। शब्द के अभाव मे विकास रुक जायेगा। शब्द या सुरता एक ही बात है। कबीर ने सुरता का बहुत प्रयोग किया है। मन्त्र निर्माता जानता है कि किन शब्दो का गठन होना चाहिए? मन्त्र मे शब्द का अर्थ गौण होता है, केवल शब्द की शक्ति होती है। गठन का आधार रहता है, प्रकपन।

अमुक-अमुक शब्द मिलकर किस प्रकार का प्रकपन पैदा करेंगे, इस आधार पर शब्द सरचना सगठित होती है। सारी ध्वनि-चिकित्सा प्रकंपनो के आधार पर चलती है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ मे भी ध्वनि-चिकित्सा के बहुत से प्रयोग किए गए हैं। जहा हजार दवाइया काम नही करती वहा एक शब्द काम कर जाता है।

भावातीत ध्यान : अनुप्रेक्षा

शब्दो का गठन, प्रकपन और भावना—तीन का योग बनता है और जप शुरू हो जाता है, व्यक्ति भावातीत स्थिति मे चला जाता है। प्रेक्षाध्यान मे जप अनुप्रेक्षा के साथ चलता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है। स्वाध्याय ध्यान का आदि सोपान है। ध्यान और अनुप्रेक्षा का योग है। प्रेक्षा मे जो सचाइया मिलती हैं, उनको जीवनगत बनाना है तो आवृत्तिया करनी होंगी। आवृत्ति करते रहने से मन पर उसका सस्कार होना शुरू हो जाएगा। शब्द की महिमा का प्रभाव हमारे भीतर तक पैठा हुआ है। हम सारे अर्थो को शब्द के माध्यम से ही जान रहे हैं। इसलिए शब्द- शक्ति से जुडे प्रयोग महत्वपूर्ण बन जाते हैं। मन्त्र जप की साधना के सन्दर्भ मे प्रेक्षाध्यान की एक पद्धति अनुप्रेक्षा और भावातीत ध्यान – दोनो की एक दृष्टि से तुलना कर सकते हैं।

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

हिंसा और अहिंसा शब्द कब सामने आए? यह इतिहास की खोज का विषय है। हिंसा और अहिंसा की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही चली आ रही है। दो परपराएं बन गईं—हिंसा की परपरा और अहिंसा की परम्परा। समाज मे कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिंसा का भी समर्थन किया है। युद्ध और शस्त्रो के बारे में बहुत विशद विवेचन किया गया है और उनके उपाय भी सुझाये गए हैं। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होने युद्ध-वर्जन, निःशस्त्रीकरण एव हिंसा के विरोध के लिए अतिसूक्ष्म चितन प्रस्तुत किया है।

अहिंसा के विचारक

अहिंसा का सिद्धान्त बौद्धिकता पर नही, अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। अन्तर्दृष्टि जागे बिना अहिंसा की बात भी समझ मे नही आ सकती, उसका विकास भी संभव नही है। यह सारा इन्द्रिय चेतना से परे का विषय है।

अहिंसा की परपरा मे अनेक बडे-बडे साधक और महात्मा हुए हैं। इन दो शताब्दियों में अहिंसा के दो विशिष्ट विचारक, चिन्तक, या तत्त्ववेत्ता हुए हैं। एक हैं आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं महात्मा गाधी। आचार्य भिक्षु राजस्थान मे जन्में और महात्मा गांधी गुजरात में। आचार्य भिक्षु जैन धर्म के संस्कारों में पले-पुषे और महात्मा गाधी वैष्णव धर्म के सस्कारो में। आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी दोनो ही वैश्य थे। दोनो की बुद्धि और पहुच बहुत तीव्र थी। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के बारे में जितना लिखा, उतना शायद एक हजार वर्षों में भी किसी ने नही लिखा होगा। दूसरी ओर गांधी ने भी जितना अहिंसा पर काम किया, उतना आचार्य भिक्षु को छोडकर शायद और किसी ने नही किया होगा। दोनों के कार्य-क्षेत्र [illegible] हो सकते हैं।

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

हिसा और अहिसा शब्द कब सामने आए? यह इतिहास की खोज का विषय है। हिसा और अहिसा की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही चली आ रही है। दो परपराएं बन गईं—हिसा की परपरा और अहिसा की परम्परा। समाज मे कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिसा का भी समर्थन किया है। युद्ध और शस्त्रो के बारे में बहुत विशद विवेचन किया गया है और उनके उपाय भी सुझाये गए हैं। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होंने युद्ध-वर्जन, निःशस्त्रीकरण एवं हिसा के विरोध के लिए अतिसूक्ष्म चितन प्रस्तुत किया है।

अहिंसा के विचारक

अहिसा का सिद्धान्त बौद्धिकता पर नही, अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। अन्तर्दृष्टि जागे बिना अहिसा की बात भी समझ मे नही आ सकती, उसका विकास भी सभव नही है। यह सारा इन्द्रिय चेतना से परे का विषय है।

अहिसा की परपरा मे अनेक बडे-बडे साधक और महात्मा हुए हैं। इन दो शताब्दियो में अहिसा के दो विशिष्ट विचारक, चिन्तक, या तत्त्ववेत्ता हुए हैं। एक हैं आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं महात्मा गाधी। आचार्य भिक्षु राजस्थान मे जन्मे और महात्मा गाधी गुजरात में। आचार्य भिक्षु जैन धर्म के सस्कारों में पले-पुषे और महात्मा गाधी वैष्णव धर्म के सस्कारो मे। आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी दोनो ही वैश्य थे। दोनो की बुद्धि और पहुंच बहुत तीव्र थी। आचार्य भिक्षु ने अहिसा के बारे मे जितना लिखा, उतना शायद एक हज़ार वर्षों मे भी किसी ने नही लिखा होगा। दूसरी ओर गांधी ने भी जितना अहिसा पर काम किया, उतना आचार्य भिक्षु को छोडकर शायद और किसी ने नही किया होगा। दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं।

हरिभाऊ उपाध्याय का मत

हरिभाऊ उपाध्याय ने एक पुस्तक की समीक्षा मे लिखा – ''आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के सदर्भ मे भूमिका-भेद को निकाल दें तो दोनो एक विन्दु पर आ जाते हैं। भूमिका-भेद का अर्थ है – महात्मा गाधी राजनीति के क्षेत्र मे काम कर रहे थे और साथ मे अहिंसा की नीति को अपनाए हुए थे। अहिंसा उनके लिए एक नीति नही, एक धर्म था। गाधीजी ने लिखा है—अहिंसा काग्रेस के लिए एक नीति हो सकती है पर मेरे लिए वह एक धर्म है। आचार्य भिक्षु का क्षेत्र कोरा अध्यात्म का क्षेत्र था इसलिए उनके समक्ष अहिंसा धर्म ही था, यह निर्विवाद है।

साधन-शुद्धि का प्रश्न

आज मार्क्सवाद ने अहिंसा के सदर्भ में एक वहुत वड़ा प्रश्न उभारा है। मार्क्स ने कहा – साध्य को पाने के लिए अगर अच्छा साधन मिलता हो तो ऐसा साधन अपनाया जाए किन्तु अगर अच्छे साधन से साध्य न मिलता हो तो जैसे-तैसे अशुद्ध साधन से भी साध्य को पा लेना चाहिए। अगर हमे शोषण को मिटाना है तो मजदूरो का शासन स्थापित करना होगा और यदि वह सीधी तरह से उपलव्ध न हो तो उसे हिंसा के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र मे भी एक प्रश्न खडा हो गया—साधन की शुद्धि और अशुद्धि का। गाधी का आग्रह था—साध्य और साधन – दोनों शुद्ध होने चाहिए। साम्यवाद का अभिमत वन गया—साधन अशुद्ध हो तो भी चल सकता है। यह साध्य और साधन की चर्चा इस शताव्दी मे वहुत लवी चली। इसका यदि मूल स्रोत खोजें तो वह आचार्य भिक्षु के दर्शन में मिलता है।

हृदय परिवर्तन और अहिंसा

साधन-शुद्धि के इस प्रश्न को सवसे पहले आचार्य भिक्षु ने उठाया। उन्होने कहा—शुद्ध साधन के विना अहिंसा कभी नही हो सकती। साध्य अच्छा हो तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। वल-प्रयोग से अहिंसा नही हो सकती। हृदय परिवर्तन के विना अहिंसा नहीं हो सकती। प्रलोभन और वल-प्रयोग—ये दोनो हिंसा को मिटा सकते हैं पर अहिंसा को नही ला सकते। अहिंसा के लिए एक मात्र साधन है हृदय परिवर्तन। जो व्यक्ति

हिसा कर रहा है, उसका मानस बदल जाए तभी अहिसा सभव है। आचार्य भिक्षु ने साध्य और साधन की शुद्धि के सदर्भ मे कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—आचार की चौपई, अनुकपा की चौपई आदि। इन ग्रथों मे आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि की गभीर और सूक्ष्म चर्चा की है। उन्होने लिखा — अशुद्ध साधनो से कभी भी शुद्ध साध्य को नही पाया जा सकता। यदि साधन अशुद्ध है तो साध्य भी अशुद्ध हो जाएगा। यदि इस परिप्रेक्ष्य मे से हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को निकाल दे तो मार्क्सवाद के सामने टिकने वाली इतनी स्पष्ट चर्चा शायद कही नही मिलेगी। इस कोण से देखे तो आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी एक बिन्दु पर आ जाते हैं।

हिंसा हिंसा है

गाधी के सामने एक प्रश्न आया— किसान बन्दरो को खेती से भगाते हैं और कभी मार डालते हैं। आप उसे क्या कहेगे? अगर न भगाएं तो खेती का नुकसान होता है। गाधी ने कहा — बन्दरो को भगाना या मारना अनिवार्य हिंसा मानकर क्षम्य भले ही माना जाये पर वह अहिंसा तीन काल मे भी नही हो सकती। गाधीजी ने स्पष्ट कहा — तीन काल मे हिंसा हिंसा ही रहेगी। हम उसे इस आधार पर क्षम्य भले ही मान लें कि इसके बिना समाज का काम नही चल सकता। आचार्य भिक्षु ने यही स्वर सामने रखा था पर उसका काफी विरोधी हुआ। आचार्य भिक्षु ने कहा — अनिवार्य हिंसा भी हिंसा है। चाहे युद्ध करना पडे, जीवन को चलाने के लिए हिंसा करनी पडे, खेती को बचाने के लिए हिंसा करनी पडे। अपरिहार्य कोटि की जितनी हिंसा है, वह सारी की सारी हिंसा ही है, उसे अहिंसा कभी नहीं कहा जा सकता।

समान चिन्तन

महात्मा गाधी और आचार्य भिक्षु दोनों के चिन्तन और शब्दावली में कोई अन्तर नही है। ऐसा लगता है — आचार्य भिक्षु की शब्दावली का प्रयोग गाधी ने किया और गाधी की शब्दावली का प्रयोग आचार्य भिक्षु ने किया। वस्तुत जो बात प्रज्ञा में से निकलेगी, उसमे मतद्वैत नही होगा। बौद्धिकता में मतद्वैत होता है। जहां मत है वहा द्वैत भी होगा किन्तु जहा मत नही, सत्य है वहा कभी भी दो विचार हो नही सकते। मत और सत्य

मे यही अन्तर है। मत होता है माना हुआ और सत्य होता है जाना हुआ। अनुभव के क्षेत्र मे कभी द्वैत नही रहता।

प्रश्न धर्म की कसौटी का

गाधीजी ने सत्याग्रह, स्वावलबन और व्रत—इन तीनो पर बहुत बल दिया। आचार्य भिक्षु के सामने व्रत के सिवाय कुछ नही था। उनके सामने धर्म की कसौटी थी—सयम, व्रत। आचार्य भिक्षु की भाषा है – जहा-जहा व्रत, वहा-वहा धर्म, जहा-जहां अव्रत वहा-वहां अधर्म। गाधीजी ने जो कसौटी प्रस्तुत की, वह इस कसौटी मे कुछ भिन्न है। गाधीजी ने दो कसौटिया अपनाई—सयम और सुखवाद। जिससे समाज को सुख मिले, वह भी धर्म है इसीलिए उन्होने सुखवादी धारणा को भी मूल्य दिया। बछडा तडप रहा था। गाधीजी ने कह दिया – गोली मार दो। बेचारा दु ख पा रहा है, इसके दु.ख को मिटा दो। यह सुखवादी दृष्टिकोण भी बराबर काम करता रहा है, इसीलिए सामाजिक कार्यो को धर्म के साथ जोडने मे गाधी का जो योग रहा है, उसका कारण यह सुखवादी दृष्टिकोण रहा।

कोई किसी को न मारे

मैंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी – 'अहिसा'। वह पुस्तक गाधीजी के पास पहुची। उस पर गाधीजी ने अपने हाथ से कुछ टिप्पणिया लिखी। गाधीजी ने लिखा – आचार्य भिक्षु कौन हैं? अहिसा की ऐसी व्याख्या मैंने आज तक कभी नही पढी। उस पुस्तक पर ऐसी पाच-सात टिप्पणियां थी। पढकर ऐसा लगा – अहिसा के प्रति वे बहुत जिज्ञासु थे। जब सर्वोदय कार्यकर्ता मिश्रीमलजी सुराणा गाधीजी से मिले तब उन्होने गाधीजी से आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तो की चर्चा की। महादेवभाई देसाई और गांधीजी मे हुई वह चर्चा बडी मार्मिक चर्चा है। प्रश्न आया – माकण (खटमल) या बन्दर को मारने का प्रश्न आए, तो क्या करें? गाधीजी ने कहा – यदि ऐसा प्रसग आया तो मैं अपने आपको इन दोनो से बचा लूगा। मैं चाहूगा कि कोई किसी को न मारे। आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा – 'राका नै मार धींगा नै पोखे' – बडे-बडे लोगो को पोसने के लिए गरीबो को सताया जा रहा है।

अल्प हिंसा या हिंसा का अल्पीकरण

जो व्यक्ति अहिंसा पर विचारेगा, चिन्तन करेगा, लिखेगा, वह आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी पर पहले सोचेगा, चिन्तन करेगा। अहिंसा के सदर्भ मे इन दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करना जरूरी है। तेरापथ मे इस विषय पर काफी अध्ययन हुआ है। आचार्य भिक्षु के सामने प्रमुख सिद्धान्त था— अल्प आरभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा का। समाज मे रहने वाला प्राणी पूर्ण अहिंसा को नही अपना सकता पर उसे हिंसा का अल्पीकरण अवश्य करना चाहिए, परिग्रह और इच्छा का अल्पीकरण करना चाहिए। सर्वोदय के सदर्भ मे एक प्रश्न आया। हमने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त के आधार पर लिखा—यह शब्द रचना ठीक नही है कि अल्प हिंसा वाला समाज अच्छा है। इसको इस प्रकार बदल दिया जाना चाहिए—समाज मे हिंसा का अल्पीकरण अच्छा है। अल्प हिंसा, इस शब्द रचना मे हिंसा का समर्थन है, 'हिंसा का अल्पीकरण' इस शब्दरचना मे अहिंसा का समर्थन है। हिंसा का अल्पीकरण करना अहिंसा की दिशा मे प्रस्थान है।

समस्या है केन्द्रीकरण

गाधीजी ने जो नीति अपनाई, वह तीन बातो पर आधारित थी— विकेन्द्रित सत्ता, विकेन्द्रित अर्थनीति और विकेन्द्रित उद्योग। जहा सत्ता, अर्थ और उद्योगो का केन्द्रीकरण बढ़ता है वहा शोषण और अहिंसा को बढ़ावा मिलता है। यदि यह विकेन्द्रित अर्थनीति का सिद्धान्त आज देश मे लागू होता तो गाव के लोग इतने पिछडे और गरीब नही रहते। एक ओर तीन शब्द हैं— अल्प आरभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा। दूसरी ओर तीन शब्द हैं— विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता और विकेन्द्रित उद्योग। हम इन दोनो शब्दो की अर्थ मीमासा करे तो कहा जाएगा— ये दोनो अहिंसा की दिशा मे प्रस्थान के पथ हैं। पर कहना यह चाहिए— हिन्दुस्तान के लोगो ने न अचार्य भिक्षु को समझने का प्रयत्न किया, न महात्मा गाधी को समझने का प्रयत्न किया। इन्द्रिय चेतना और भोगवादी सस्कृति मे पलने वाला आदमी इस बात को समझने का प्रयत्न करे, यह सभव भी नही लगता। यह अनिवार्यता कभी-कभी आती है। जब कभी

हिंसा तीव्र हो जाती है, तब व्यक्ति बाध्य होकर कभी-कभी अहिंसा के बारे मे सोचता है। सहजतया आदमी इस सदर्भ मे सोच ही नही पाता।

व्यक्तित्व निर्माण का प्रश्न

हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के सदर्भ मे एक व्यावहारिक पहलू पर भी विमर्श करे। आचार्य भिक्षु व्यक्तित्व निर्माण मे बहुत सजग थे। व्यक्तित्व का निर्माण वही कर सकता है, जो छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देता है। हम महात्मा गाधी को देखे। एक ओर राजनीति के सचालन का दायित्व, आजादी के आन्दोलन को सचालित करने का दायित्व, दूसरी ओर सारा ध्यान केन्द्रित था सेवाग्राम और साबरमती पर। आश्रम मे रहने वाले लोगो का जीवन कैसे चल रहा है? उनका चरित्र कैसा है? चरखा कैसे कातते हैं? जीवन-चर्या कैसी है? वे एक ओर राजनीति का नेतृत्व कर रहे थे तो दूसरी ओर नए व्यक्तित्व तैयार कर रहे थे, नए व्यक्तियो का निर्माण कर रहे थे।

ध्यान दें छोटी बातों पर

आचार्य भिक्षु के परम शिष्य मुनिश्री हेमराजजी गोचरी गए, भिक्षा मे दाल लेकर आए। आचार्य भिक्षु ने देखा, पात्र मे उडद, मूग, चना आदि की दाले मिली हुई हैं। आचार्यश्री ने कहा— सब दाले मिलाकर क्यो लाए? मुनि हेमराजजी ने कहा— यह तो मिलता मेल है, पचमिसाली दाल होती ही है। आचार्य भिक्षु ने कडा उलाहना दिया— कोई साधु बीमार है, उसे मूग की दाल ही देनी है और तू मिलाकर ले आया? मुनि हेमराजजी खूटी तानकर सो गए। आहार का समय आया। सब साधु बैठ गए पर हेमराजजी नही आए। सतों ने आचार्य भिक्षु से कहा— मुनि हेमराजजी सो रहे हैं। आचार्य भिक्षु बोले— हेमडा! दोष मेरा देख रहा है या अपना देख रहा है? तत्काल समाधान हो गया। वे भोजन करने के लिए प्रस्तुत हो गए।

आचार्य भिक्षु बहुत छोटी-सी बात पर भी ध्यान देते थे कि कहीं प्रमाद न हो। जो व्यक्ति छोटी बात पर ध्यान नही देता, वह किसी महान् व्यक्तित्व के निर्माण मे सफल नही हो सकता। बांध मे छोटा-सा छेद हो गया। यदि हम यह कहे— छोटा सा छेद हुआ है क्या फर्क पडेगा तो उसका

परिणाम क्या होगा? निर्माण के लिए छोटी-छोटी बातो पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

तत्काल इलाज करें

पुराने जमाने की बात है। वैद्य से एक बीमार ने कहा— वैद्यवर! जुखाम हो गया है, कोई पुडिया दे। वैद्य ने कहा— चला जा यहा से, क्या समझकर आया है? क्या मैं छोटा वैद्य हूं, जो तुम्हे जुकाम की दवा दू। बीमार आदमी बोला— वैद्यराज! मैं तो बडी आशा लेकर आया था। वैद्य ने कहा— मैं तो निमोनिया का इलाज करता हू। मेरे पास उसकी रामबाण दवा है। कभी निमोनिया हो जाए तो मेरे पास आना। तुम एक काम करो तो आज ही दवा दे दूगा। तुम्हें जुकाम तो है ही। नदी के पानी मे खूब नहाओ। जब निमोनिया हो जाए तब मेरे पास चले आना। मैं इलाज कर दूगा।

'जो लोग जुकाम को मिटाना नही जानते और निमोनिया का इलाज जानते हैं, वे बडे भयकर होते हैं। जो छोटी बात पर ध्यान देना नही जानते, वे लोग ही ऐसी बाते करते हैं। हम निमोनिया होने ही क्यो दे? इसीलिए कहा है— अग्नि, रोग और शत्रु— इनका तत्काल इलाज कर देना चाहिए ताकि ये बढे नही। इनके साथ एक बात और जोड दे— मनुष्य का स्वभाव। इसका भी इलाज तत्काल कर देना चाहिए। इस प्रसग में आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी की प्रकृति एकाकार हो जाती है। कहा जा सकता है— अहिंसा और व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र मे आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी इन दो व्यक्तियो ने जो कार्य किया है, उसके लिए समाज और दर्शन का क्षेत्र इनका ऋणी रहेगा और ये दोनो ही व्यक्ति अध्ययन और मनन का विषय बने रहेगे।

आचार्य भिक्षु और टॉलस्टॉय।

यह विराट् विश्व और उसकी व्यवस्था कैसी चल रही है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। विश्व केवल हमारी पृथ्वी ही नही है। अनन्त आकाश अवस्थित मे हैं, अनत निहारिकाएं, सौरमडल और पृथ्विया। कैसे चल रहा है यह विश्व? यह प्रश्न हजारों वर्ष पहले ऋषियो के मन मे उभरा था। आज हमारे मन मे भी यह प्रश्न उठ सकता है।

विश्व-व्यवस्था : मूल-तत्त्व

विश्व की व्यवस्था का मूल तत्व है नियम या सयम। विश्व नियम से चलता है, संयम से चलता है। वे नियम मनुष्य के द्वारा बनाए हुए नही हैं। जो सार्वभौम नियम हैं, जागतिक नियम हैं, वे विश्व-व्यवस्था के नियामक हैं। दूसरी बात है— जगत् में सयम है, इसलिए विश्व चल रहा है। हम जिस पृथ्वी पर जी रहे हैं, उसकी बात करे। इस पृथ्वी मे पानी का भाग कितना है, और स्थूल भूभाग कितना है। स्थूल भूभाग बहुत छोटा है। जो है, वह भी प्राय. पानी से घिरा हुआ है। चारो ओर समुद्र ही समुद्र है। मध्य मे एक छोटा सा टुकडा है स्थूल भूभाग का। यदि पानी थोडा सा और बढ़ जाए, समुद्र का जलस्तर चार-पाच मीटर बढ जाए तो पृथ्वी की क्या दशा होगी? लेकिन उसका जलस्तर बढ़ नही रहा है, सयमित है, इसीलिए उसका नाम समुद्र है। सस्कृत मे मुद्रा शब्द का अर्थ होता है मर्यादा। जो मर्यादा सहित है, सयम से युक्त है, वह समुद्र है। समुद्र अपनी मर्यादा को नही तोडता। नदी के पास जाने मे खतरा महसूस हो सकता है, पर समुद्र के पास मे कोई खतरा नही होता। नदी का पूर कब आ जाए, इसका पता नही चलता। समुद्र का नियम निश्चित है। ज्वार और भाटे का नियम निश्चित है, जल की वृद्धि और ह्रास का नियम निश्चित है।

नियामक तत्व है संयम

सारा विश्व नियम से चल रहा है। यह अलग बात है कि व्यक्ति अपने

असयम से ओजोन की छतरी को तोड दे और परा-बैंगनी किरणें बरसनी शुरू हो जाए। अन्यथा प्रकृति अपने नियम से चलती है। निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है– विश्व की व्यवस्था का नियामक तत्व है – सयम। इसीलिए हम उन व्यक्तियों को आज भी याद करते हैं, जो सयम के प्रवक्ता हुए हैं। सयम के प्रवक्ता इस दुनिया के मान्य व्यक्ति हुए हैं। असयम का जीवन जीने वाले, असयम की बात करने वाले अनगिनत व्यक्ति हुए हैं, जिनका लोग नाम तक नही जानते हैं। जो जो सयम के प्रवक्ता हुए हैं, उन्हे मानव जाति सिर पर उठाए हुए है। वह उनकी चरण रज को पवित्र मानकर कर पूजती है।

संयम के दो प्रवक्ता

आज मैं सयम के दो प्रवक्ताओं की चर्चा करना चाहता हू। एक हैं– आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं – महात्मा टालस्टाय। आचार्य भिक्षु राजस्थान में जन्मे और टालस्टाय रूस में। दोनो ही महान् विचारक और सयम के महान् प्रवक्ता थे। टालस्टाय गृहस्थ होते हुए भी सन्यासी थे। आचार्य भिक्षु जैन मुनि बने, मुनित्व का उन्नयन किया। उनके सयमजीवन की एक ही कसौटी थी और वह थी सयम। सयम के अलावा और कोई बात उनके सामने नही थी।

विकास कैसे?

मनुष्य जाति को अपने विकास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है आदर्श की। जिस समाज के सामने कोई आदर्श नही होता, वह कभी भी आगे नही बढ सकता, विकास नही कर सकता। दूसरा तत्त्व है– आदर्श की प्राप्ति का साधन। उस आदर्श तक कैसे पहुचा जा सकता है? यह जाने विना विकास सभव नही बनता। तीसरा तत्त्व है– अपना पराक्रम और गति। साध्य, साधन और गति– इन तीनो का योग विकास के लिए जरूरी है।

आदर्श है वीतराग

जैन धर्म मे आदर्श माना गया– वीतराग। इस राग-द्वेष जनित दुनिया मे अगर वीतराग जैसा तत्त्व नियामक न हो तो दुनिया की क्या स्थिति बन जाए? सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन में वीतराग को मूल्य दिया गया है फिर भी तीव्र राग-द्वेष और तीव्र असयम है, इतनी उद्दडता, अपराध और आतक है।

यदि वीतराग आदर्श नही होता तो कैसी स्थिति होती? चारो ओर अधकार ही अधकार होता, कही प्रकाश दिखाई ही नही देता।

आदर्श है वीतराग और उसे पाने का साधन है सयम। कोई व्यक्ति सयम के विना वीतरागता की दिशा मे प्रस्थान नही कर सकता। यदि हमारे सामने आदर्श स्पष्ट नही है तो हमारी दिशा ही गलत हो जाएगी। गति से पूर्व दिशा का निर्धारण जरूरी होता है। दिशाहीनता से भटकाव की स्थिति निर्मित होती है। यह असयम का जो भटकाव है, वह दिशाहीनता का परिणाम है। दिशाहीनता को मिटाने का कार्य करते हैं सयम के प्रवक्ता। इसलिए उन्हे विश्व स्थिति का नियामक कहा जा सकता है—

आदर्शो वीतरागोस्ति,
सयमस्तस्य साधनम्।।
सयमस्यप्रवक्तार,
संति विश्वनियामका ।।

टालस्टाय का कथन

आचार्य भिक्षु का लक्ष्य था मोक्ष की उपलब्धि। सयम और मोक्ष— इन दो शब्दो के विना आचार्य भिक्षु को समझा ही नही जा सकता। टालस्टाय से पूछा गया— यदि सव लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने लगें तो मनुष्य जाति के नष्ट होने का खतरा पैदा नही हो जाएगा? टालस्टाय ने उत्तर दिया— भाई! तुम चिन्ता क्यो करते हो? धार्मिक लोग मानते हैं— मोक्ष जाना है और वैज्ञानिक लोग मानते हैं— एक समय ऐसा आएगा कि सूर्य ठडा हो जाएगा। दोनो ही दृष्टियो से मनुष्य जाति का समाप्त हो जाना अनिवार्य है। चिन्ता की कोई वात नही है।

वहुत लोग सयम की वात पर तर्क का आवरण डालने का प्रयत्न करते हैं। टालस्टाय के इस उत्तर मे सयम का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित है।

आचार्य भिक्षु की संयम-निष्ठा

हम आचार्य भिक्षु की सयम-निष्ठा को देखे। उन्हें कितनी कसौटियो में से गुजरना पडा। पहले अपना सयम और इतना कठोर सयम कि देखने वाला प्रकम्पित हो जाए। एक धर्मक्रांति का समय चल रहा था। आचार्य भिक्षु ने वे

सचाइया प्रकट की, जिन्हे सुनने के लिए जनता मानसिक रूप से तैयार नही थी। तत्कालीन समाज आचार्य भिक्षु की उन बातो से विक्षुब्ध बन गया। आचार्य भिक्षु उन कठिन परिस्थितियो मे अविचलित बने रहे। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो केवल सत्य की अपेक्षा रखते हैं, और किसी बात की अपेक्षा नही रखते। आचार्य भिक्षु भी ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तित्व थे। उन्होने सत्य के लिए जानबूझ कर अनेक कष्टो को झेला। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के स्वयभू आचार्य बने। आचार्य बनने के बाद जब उन्होंने सत्य की उद्घोषणाए की तब समाज मे विद्रोह हो गया। समाज ने उद्घोषणा की— आचार्य भिक्षु को ठहरने के लिए स्थान नही दिया जाए, आहार नही दिया जाए, पानी नही दिया जाए। आज गरीबी की रेखा के नीचे जो समाज जी रहा है, पाच वर्ष तक वैसी स्थिति बनी रही। दो जून खाने को भी नही मिला। आचार्य भिक्षु उपवास करते, सयम और तपस्या का जीवन जीते। इस प्रकार का कठोर जीवन जीना स्वीकार किया लेकिन सत्य और सयम का पथ नही छोडा।

धर्म . प्रारम्भ बिन्दु

आचार्य भिक्षु ने धर्म की परिभाषा की— त्याग धर्म, भोग अधर्म। सयम धर्म, असयम अधर्म। व्रत धर्म, अव्रत अधर्म। धर्म की यह ऐसी सरल परिभाषा है, जिसमे किसी सम्प्रदाय का प्रश्न नही है। वीतरागता या मोक्ष की दिशा मे किसी को प्रस्थान करना है तो उसे त्याग, सयम और व्रत को अपनाना ही होगा।

टालस्टाय से पूछा गया— धर्म की बात बहुत लम्बी चौडी है। उसका प्रारभ कहां से करे? टालस्टाय ने कहा — उपवास से। भगवान महावीर ने साधना के बारह भेद बतलाए। साधना का पहला सूत्र था— अनशन— उपवास।

आहार-सयम के बिना वीतरागता या धर्म की बात नही सोची जा सकती। सारा असयम आहार से पैदा होता है। बहुत पहले इस सचाई को पकडा गया— जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। जब तक आहार का सयम नही होगा, इन्द्रिय-सयम, शरीर-सयम या आसन-सयम की बात सभव ही नही है।

प्रतिरोधात्मक शक्ति है संयम

वर्तमान मानव समाज मोक्ष को माने या न माने, वीतरागता को माने या न माने किन्तु उसके लिए एक 'एन्टी वॉडी' का निर्माण करना जरूरी है। केवल राजसत्ता या दण्ड-विधानों के आधार पर समाज को शासित नही किया जा सकता। शरीर मे बहुत से जीवाणु भरे पडे हैं, पर हमारी रोग-निरोधकशक्ति, जैविक शक्ति निरतर बचाव करती है। यदि वह शक्ति कमजोर हो जाए तो व्यक्ति रुग्ण बन जाए। यदि समाज मे सयम की प्रतिरोधात्मक शक्ति न रहे तो समाज कभी स्वस्थ और अच्छे ढग से नही चल सकता। उस शक्ति को जीवित रखने के लिए धर्म को जीवित रखना जरूरी है। सयम जीवित धर्म है। यदि यह बात समझ मे आ जाए तो आचार्य भिक्षु भी समझ मे आ जाएंगे, महात्मा टालस्टाय भी समझ मे आ जाएगे।

आचार्य भिक्षु और रस्किन

सत्य पर किसी का अधिकार नही होता। वह सबके लिए समान होता है। विचार का धरातल भी सबके लिये समान होता है। उसमे देश और काल कही व्यवधान नही बनते। किसी भी देश और किसी भी काल मे सत्य का शोध करने वाले और उदात्त विचार करने वाले लोग जन्म लेते रहे हैं। आचार्य भिक्षु मारवाड मे जन्मे और जॉन रस्किन जर्मनी मे। किन्तु जब दोनो के चिन्तन को देखते हैं तो आचार्य भिक्षु और रस्किन विचार की भूमिका पर बहुत निकट आ जाते हैं, क्षेत्रीय दूरी समाप्त हो जाती है।

सर्वोदय का सिद्धान्त

महात्मा गाधी तीन व्यक्तियों से वहुत प्रभावित हुए थे – श्रीमद् राजचद्र, टॉलस्टाय और जॉन रस्किन। जॉन रस्किन की एक पुस्तक पढने के बाद महात्मा गाधी ने सर्वोदय का नाम प्रकट किया। आचार्य समतभद्र ने सबसे पहले सर्वोदय शब्द का प्रयोग कया था। उन्होने भगवान महावीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ से अभिहित किया। जॉन रस्किन की अन्टू दि लास्ट (Unto the last) नामक पुस्तक से महात्मा गाधी ने सर्वोदय का नाम लिया। रस्किन ने कहा– जो अन्तिम आदमी है, वहा तक तुम सोचो, उस तक पहुचो। आचार्य भिक्षु ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग तो नही किया किन्तु उनकी सारी स्थापनाए सर्वोदय के साथ चलती हैं। गरीबो का पक्ष लेने वाले विरल व्यक्तियो मे आचार्य भिक्षु का नाम अग्रणी है। रस्किन और गाधी ने केवल मनुष्यो के बारे मे सोचा– गरीबो के प्रति अन्याय न हो। आचार्य भिक्षु का चिन्तन केवल मनुष्यो तक ही नही, प्राणी मात्र के लिए था– किसी छोटे से जीव के प्रति भी अन्याय न हो, अतिक्रमण न हो। रस्किन और आचार्य भिक्षु– दोनों के सामने सर्वोदय का सिद्धान्त रहा है, भूमिका अलग हो सकती है। रस्किन के सामने समाज का प्रश्न था और

आचार्य भिक्षु के सामने जगत् का प्रश्न था। दोनो के फलित मे सर्वोदय होता है।

सोलोमन से प्रभावित

रस्किन एक यहूदी व्यापारी सोलोमन से प्रभावित था। उसके विचार बडे ही मार्मिक थे, सत्यपरक थे। उसके विचार थे – सबकी भलाई में ही हमारी भलाई है। सबकी भलाई सोचे तभी हमारी भलाई हो सकती है। सबको छोडकर केवल अपनी भलाई की बात कभी सभव नही हो सकती। यह था सोलोमन का चिंतन। सोलोमन का दूसरा विचार था कि जो आदमी धन कमाने के लिए गरीबो को सताता है, वह अन्त मे सताप भोगेगा। यह नैतिकता का विचार था। उसका तीसरा विचार था – अमीर और गरीब– दोनो को समान समझो। इन विचारों का प्रभाव रस्किन पर पडा और उसने अपने लेखो मे सोलोमन के विचारों को बहुत महत्त्व दिया। रस्किन ने अपनी जो स्थापनाए की, उस भूमिका पर उसने चिन्तन किया और चिन्तन का निष्कर्ष 'अन्टू दि लास्ट' नामक पुस्तक मे प्रस्तुत किया। उस पुस्तक का गाधी जी पर बहुत प्रभाव हुआ।

सबसे बड़ी भूल

रस्किन का एक विचार था कि मनुष्य बहुत भूले करता है। सबसे बडी भूल यह करता है कि वह आदमी को मशीन मानकर उससे काम लेता है। उसके साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नही करता। आचार्य भिक्षु ने भी इस सचाई को पकडा। जब तक आदमी-आदमी के साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नही करेगा तब तक समाज या सगठन कभी अच्छा नही चल सकेगा। आचार्य भिक्षु ने अंतिम समय मे अपने साधुओ को जो शिक्षा दी, उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र था– सब साधु-साध्विया परस्पर मे सौहार्द का भाव रखना, स्नेह और वात्सल्य का भाव रखना। कोई सगठन स्नेह और वात्सल्य के अभाव मे अच्छा चल नही सकता। जिस सगठन मे स्वार्थ की अनुभूति होने लगती है, उसमे गहराई नही आ सकती। हर आदमी सशकित रहता है।

धर्मोपदेशक का कर्त्तव्य

व्यवहार का बडा सूत्र है– आश्वस्त करना, विश्वस्त रहना। आचार्य

भिक्षु ने व्यवहारवाद पर बहुत बल दिया। जहा व्यवहार क्लात होता है, उसमे रूखापन आता है वहा उस सगठन मे विकास की कल्पना नही की जा सकती। आचार्य भिक्षु और रस्किन ने ठीक इसी बात पर बल दिया कि किसी भी आदमी को मशीन मान लेना बहुत बडी भूल है। जहा यह माना जाएगा वहा समस्याए पैदा हो जाएगी। रस्किन की एक बात मुझे बहुत अच्छी लगी। उन्होने लिखा– एक धर्मोपदेशक, जो सत्य का प्रतिपादन करता है, यदि उसे सत्य का प्रतिपादन करने के कारण कोई मार डाले तो मर जाना कबूल करे, पर वह झूठ बात न कहे। मरते दम तक सत्य का प्रतिपादन करना, यह धर्मोपदेशक का महान् कर्तव्य है। जो बात रस्किन ने कही, आचार्य भिक्षु ने उसे जीया। आचार्य भिक्षु ने सत्य का प्रतिपादन किया। सचाई के प्रतिपादन के लिये सैकडों कठिनाइयो को झेला। उन्होने मरते दम तक सत्य को नही छोडा। आचार्य भिक्षु सत्य का प्रतिपादन करते रहे, कठिनाइयो को झेलते रहे। ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। रस्किन के इस वाक्य ने आचार्य भिक्षु के जीवन में साकार रूप ग्रहण किया। धर्मोपदेशक अगर भय और प्रलोभन कें साथ अपनी बात कहता है तो वह सही अर्थ मे सच्चा धर्मोपदेशक नही होता। आचार्य भिक्षु ने हमेशा सत्य का उद्घाटन किया, भय और प्रलोभन के दबाव से सर्वथा मुक्त होकर किया।

श्रम का महत्त्व

गाधी जी ने श्रम का जो सिद्धान्त सीखा, उसमे टालस्टाय और रस्किन– दोनो मुख्य रहे हैं। रस्किन ने इस बात पर बल दिया कि सही जीवन वही है, जो सादा और श्रम युक्त जीवन हो। बडप्पन और छुटपन के जो झूठे मानदण्ड समाज में विकसित हो गये हैं, वे समाज के लिये हितकर नही हैं। आचार्य भिक्षु ने भी श्रम की प्रतिष्ठा कम नही की। उन्होने स्वय तो श्रम का जीवन जीया किन्तु साधु समाज को जो व्यवस्थाए दी, उनमे भी श्रम को काफी महत्त्व दिया। प्रत्येक मुनि के लिए बोझ उठाना, गोचरी लाना, पानी लाना, कचरा निकालना आदि आवश्यक कर दिया। सब मुनि बराबर श्रम करे, ऐसी व्यवस्था आचार्य भिक्षु ने दी इसीलिए तेरापथ के साधु-साध्विया बहुत श्रमनिष्ठ रहे हैं।

हमारे यहा सबके सब दर्जी हैं, सबके सब नाई हैं, सबके सब धोबी हैं। जो श्रम की प्रतिष्ठा आचार्य भिक्षु ने की, उसके सदर्भ मे कहा जा सकता है– श्रम को मूल्य देने के बारे मे जो रस्किन ने सोचा, टालस्टाय ने सोचा, गाधी जी ने सोचा, उसे आचार्य भिक्षु ने पहले ही क्रियान्वित कर दिया था।

स्नेह और सौहार्द भाव

तेरापथ के निकट रहने वाले लोग धर्म सीखने के साथ-साथ सगठन और व्यवहार को सीखते तो समाज का भी बडा कल्याण होता। श्रम करना अलग बात है और उसे प्रतिष्ठा देना, महत्त्व देना अलग बात है। आचार्य भिक्षु ने उसे मूल्य दिया था।

आचार्य भिक्षु ने कहा– जब तक यह परस्पर स्नेह और सौहार्द की भावना रहेगी तब तक साधु-सस्था तेजस्वी बनी रहेगी। यह सचाई रस्किन के विचारो मे भी उपलब्ध होती है। वस्तुत अध्यात्म के धरातल पर कोई द्वैत नही हो सकता। इसे हम आचार्य भिक्षु और रस्किन– इन दो महान् पुरुषो के विचारो मे उपलब्ध साम्य से जान सकते हैं। हम इनकी अनुभूतियो का अध्ययन करें, हमारा दृष्टिकोण बहुत साफ और प्रशस्त होगा।

जयाचार्य और मार्क्स

इतिहास साक्षी है — दुनिया मे जितने बडे लोग हुए हैं, उन्होने समाज के दु ख को मिटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे भी कहा जा सकता है—जिन लोगो ने समाज को दु ख-मुक्त करने का प्रयत्न किया है, वे ही बडे बने हैं। दु ख है, इस तथ्य को सबने स्वीकार किया और यह प्रयत्न किया—समाज का दु ख कम कैसे हो? व्यक्ति का दु ख कम कैसे हो? समाज, राजनीति और धर्म से जुडे लोगों ने इस दिशा मे बहुत कार्य किया है।

दु:ख-मुक्ति के प्रयत्न

इस दुनिया में अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होने दु ख-मुक्ति के स्वर को उदात्त किया। ईसा पूर्व पाचवी-छठी शताब्दी में महावीर, बुद्ध और कन्फ्यूशियस ने दु.ख को मिटाने की बात कही। दु ख की भाषा और परिभाषा मे भिन्नता हो सकती है पर दु ख मिटे, इस शब्दावलि मे कोई विमत नही है। महावीर और बुद्ध—दोनो ने दु ख-मुक्ति का प्रयत्न किया। अन्तर केवल इतना सा था—बुद्ध ने केवल वर्तमान के दु ख को मिटाने पर अधिक बल दिया और महावीर ने दु ख के मूल को मिटाने पर अधिक बल दिया। कन्फ्यूशियस का मत था — बुद्धि का विकास हो लेकिन केवल बुद्धि से ही काम नही चलेगा। उसके साथ-साथ भावना का विकास हो, अनुशासन का विकास हो। इससे परिवार मे सुख एव शान्ति का वातावरण बनेगा। परिवार अच्छा बनेगा तो राज्य अच्छा बनेगा। राज्य अच्छा बनेगा तो समाज सुखी एव शान्त रहेगा।

अनुभव शोषित वर्ग की पीड़ा का

ईसा, मोहम्मद साहब आदि जितने बडे-बडे व्यक्तित्व उभरे, उन सबने दु ख को मिटाने का प्रयत्न किया। यह इतिहास का एक शाश्वत

सत्य है – जो लोग व्यापक दृष्टि से देखने वाले होते हैं, वे समाज के दु खो को कम करने का प्रयत्न करते हैं। इसी श्रृखला मे मार्क्स का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स एक ऐसे दार्शनिक और अर्थशास्त्री थे, जिन्होने समाज के निम्न वर्ग के लोगों की पीडा का अनुभव किया। उनके दु ख को देख मार्क्स द्रवित हो उठे। मार्क्स ने इसी चिन्तन मे अपना सारा जीवन खपा दिया—जो निम्न वर्ग के लोग हैं, मजदूर हैं, शोषित हैं, जिनका शोषण किया जा रहा है, उनका दु ख कैसे समाप्त हो? मिल मालिक और मजदूर का जो वर्ग-सघर्ष चल रहा है, उसमें मजदूर कैसे आगे आए? कैसे शक्तिशाली बने? इस दिशा मे उन्होने गभीर चिन्तन-मथन किया। अनेक कठिनाइयो को सहन किया। रोटी की समस्या से जूझे। गरीबी के कारण उनका लडका चल बसा। न जाने कितने कष्ट आए लेकिन मार्क्स इसी चिन्तन की क्रियान्विति में लगे रहे।

क्या वह आदमी होता है?

मैं अनेक बार सोचता हू, जो व्यक्ति गरीबो के प्रति सवेदनशील नही होता, असमर्थ लोगो के प्रति सवेदनशील नही होता, क्या वह आदमी होता है? कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो बहुत समर्थ होते हैं। वे अपने आस-पास दस-बीस या पचास-सौ लोगो का घेरा बना लेते हैं। उससे आगे की बात वे सोच नही पाते। छोटे तबके के लोगो पर उनका ध्यान ही नही जाता। जो शारीरिक, मानसिक या आर्थिक दृष्टि से असमर्थ हैं, उनके प्रति जिसके मन मे कोई सवेदना नही जागती, उसमे मानवीय करुणा का स्रोत सूख जाता है।

कार्ल मार्क्स शोषित वर्ग के प्रति सवेदनशील थे। मार्क्स ने उनके दु ख को कम करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने शोषित वर्ग के उत्थान के लिए जो विचार और दर्शन प्रस्तुत किया, उसके आधार पर एक नए दर्शन—साम्यवाद का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्तित्व

जयाचार्य और मार्क्स—दोनो ने उन्नीसवी शताब्दी को अपने चितन-मथन से प्रभावित किया। जयाचार्य का जन्म ईस्वी सन् १८०३ मे हुआ और मार्क्स का जन्म ईस्वी १८१८ मे। केवल पन्द्रह वर्ष का अन्तर।

जयाचार्य के स्वर्गवास का समय है ईस्वी सन् १८८१ और मार्क्स का देहावसान हुआ ईस्वी सन् १८८३ मे। केवल दो वर्ष का अन्तर। जयाचार्य और मार्क्स—दोनो का अस्तित्व काल एक समान रहा है। समकालिक होते हुए भी क्षेत्रीय दृष्टि से इन दोनो महान् व्यक्तियो मे बहुत दूरी है। जयाचार्य हिन्दुस्तान मे जन्मे और मार्क्स यूरोप मे। मार्क्स को अनेक देशो मे प्रवास करना पडा। उन्हे देश से निकाल दिया गया। वे फ्रान्स और लन्दन मे भी रहे। मार्क्स का कार्यक्षेत्र था समाज इसलिए उन्होंने आर्थिक भूमिका पर अधिक चिन्तन किया। जयाचार्य का कार्यक्षेत्र था अध्यात्म। उनके सामने साधु-समाज का प्रश्न था। किन्तु प्रयोग की दृष्टि से विचार करे तो जयाचार्य और मार्क्स— दोनो एक भूमिका पर आ जाते हैं। जयाचार्य ने साधु-समाज मे संविभाग और समता का प्रयोग किया। मार्क्स ने भी समाज मे समानता और सविभाग का प्रयोग किया। जयाचार्य के समय साधु-समाज में व्यवस्थाए थी लेकिन जितनी व्यवस्थाए अपेक्षित थी, उतनी नही थी।

संविभाग और समता

आचार्य भिक्षु ने 'तेरापथ धर्मसघ को व्यवस्था प्रधान धर्मसघ बनाया। 'व्यवस्थाओ को बहुत मूल्य दिया। मूल चरित्र है किन्तु आचार की शुद्धि के लिए व्यवस्थाओ को महत्त्व देना भी जरूरी है। यह माना गया – व्यवस्थाए अच्छी होगी, अनुशासन सम्यग् होगा तो चरित्र अच्छा पाला जाएगा। अनुशासन, मर्यादा और व्यवस्थाए नही होगी तो चरित्र की आराधना मे कठिनाई होगी। इस आधार पर आचार्य भिक्षु ने व्यवस्थाओ पर ध्यान दिया। जयाचार्य भी व्यवस्था के प्रति बडे जागरूक थे। जयाचार्य ने धर्मसघ मे संविभाग का प्रयोग किया। छोटा साधु है या बडा साधु है। कम पढा लिखा साधु है या अधिक पढा लिखा साधु है। पर व्यवस्था का जहा प्रश्न है वहा संविभाग होना चाहिए, समता होनी चाहिए। समर्थ साध्वी है या कमजोर साध्वी है किन्तु जहा व्यवस्था का प्रश्न है वहां संविभागिता और साम्य होना चाहिए। अगर अहिंसा के क्षेत्र मे साम्य नही होगा, संविभाग नही होगा तो क्या हिंसा के क्षेत्र मे होगा?

साम्यवाद . असफलता का कारण

जव तक ममत्व का विसर्जन नही होता तब तक साम्य और समता की बात नही आ सकती। संविभाग के लिए व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना होता है और उसका सीमाकरण तब तक सम्भव नही होता जव तक ममत्व का अल्पीकरण न हो, विसर्जन न हो। यह सूत्र जयाचार्य और मार्क्स – दोनो के सामने रहा। मार्क्स ने अपनी घोषणाओ मे कहा – साम्यवाद मे शोषण नही होगा। व्यक्तिगत सपत्ति नही होगी। तीसरी बात थी–परिवार नही होगा। यह सूत्र अध्यात्म का है। जब तक ममत्व का विसर्जन नही होता तव तक धर्म के क्षेत्र मे कोई भी व्यक्ति आगे नही बढ सकता। इसी सूत्र को मार्क्स ने अपनाया लेकिन जब तक अध्यात्म का आदर्श सामने नही रहता तब तक उसका सफल होना कैसे सम्भव हो सकता है? साम्यवाद फैल भी गया, पनप नही सका। मार्क्स ने इतनी बडी कल्पना कर ली पर साथ मे धर्म को नहीं जोडा, अध्यात्म को नही जोडा। मार्क्स ने अन्तिम समय में अपने साथी एजलस से कहा – भाई! हमे धर्म और अध्यात्म की बात सोचनी चाहिए थी पर हम इतनी उलझनो मे फसे रहे कि इस दिशा मे सोच ही नही पाए। अगर साम्यवाद की व्यवस्था के साथ अध्यात्म और धर्म को जोड दिया जाता हो व्यवस्था ठीक बन जाती। आज जो बदलाव की बात उठ रही है, गोर्बाच्योव साम्यवाद मे जो नया काम कर रहे हैं, उसकी जरूरत भी नही पडती, साम्यवाद असफल नही होता।

परिवारवाद से मुक्ति

जयाचार्य ने भी परिवारवाद को छुडाया। साधु परिवार छोडकर आता है लेकिन साधु-सस्था मे प्रविष्ट होने के बाद साधुओ का भी एक नया परिवार वन जाता है। जयाचार्य के समय मे ७४ साध्विया थी और सिघाडे थे दस। जिसने जितनी साध्विया चाही, अपने पास रख ली। एक परिवार सा वना लिया। जयाचार्य ने देखा, यह नया ममत्व वनता जा रहा है। एक ही रात मे जयाचार्य ने सारी व्यवस्था को वदल दिया, एक समीकरण कर दिया, पाच-पाच या चार-चार साध्वियो का सिघाडा (ग्रुप) कर दिया। संविभाग हो गया – साधुओ के प्रत्येक सिघाडे मे तीन अथवा दो सत और

साध्वियो के प्रत्येक सिंघाडे मे पाच अथवा चार साध्विया। एक सामान्य व्यवस्था बन गई।

व्यवस्था के साथ अध्यात्म

मार्क्सवाद के मुख्य दो सूत्र हैं--उत्पादन और वितरण, इन पर समाज और सरकार का अधिकार रहे, व्यक्तिगत अधिकार न रहे। पुस्तको का, शिष्यो का उत्पादन (संग्रह) करना तथा वितरण करना आचार्य का काम होता है। जयाचार्य ने दोनो बातो को सभाला। उस समय किसी के पास बहुत पुस्तके थी, किसी के पास कुछ भी नहीं था। जयाचार्य ने इस ममत्व को भी कम किया। उन्होने पुस्तको का भी सघीकरण (राष्ट्रीयकरण) कर दिया। इस व्यवस्था से ममत्व विसर्जन का भाव प्रवल बना। जव साधु-साध्विया चातुर्मास समाप्त कर आचार्य के पास आते हैं तव सवसे पहले वोलते हैं--'मैं, ये साधु-साध्विया, ये पुस्तक-पन्ने आपके चरणो मे समर्पित हैं। आप जहा रखें, वहा रहने का भाव है।' यह शव्दावलि कहे बिना आहार-पानी भोगने का त्याग है। यह सारा किस आधार पर हुआ? इसका कारण यही है--व्यवस्था के साथ अध्यात्म का वल था, निर्ममत्व की साधना और सयम का बल था।

जयाचार्य और मार्क्स : तुलना की आधारभूमि

यह मूलभूत अन्तर है जयाचार्य और मार्क्स में। मार्क्स ने जहा साध्य-साधन – दोनो पर विचार किया और उसे लागू करने के लिए बल-प्रयोग भी किया, वहा जयाचार्य ने कभी वल-प्रयोग नही किया। वल के द्वारा आदमी को नही हाका जा सकता। आदमी यन्त्र नही है। उसे मारा तो जा सकता है, लाठी के वल पर चलाया नही जा सकता। वह चलेगा अपनी इच्छा से। आदमी स्वतन्त्र है। धर्म का क्षेत्र पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षेत्र है।

जयाचार्य और मार्क्स -- दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद जो निष्कर्ष आता है, वह यही है--आदमी को चलाना है तो वह अध्यात्म की चेतना के द्वारा ही सम्भव है। उसकी आन्तरिक चेतना को जगाकर यह समझाया जाए – यह कार्य तुम्हारे हित मे है, यह तुम्हारे कल्याण के लिए

है। उसके हित को हृदयगम बनाकर उसे चलाया जा सकता है। जहा बल का प्रयोग होगा वहा दूसरी ही बात पनपेगी। व्यक्ति उसके अनुसार नही चलेगा किन्तु उसका मन प्रतिक्रिया से भर जाएगा। अध्यात्म, आन्तरिक चेतना का जागरण, धर्म, सयम, आत्मानुशासन – ये जो सारे शब्द गढ़े गये हैं, उनका आशय यही है कि परिवर्तन किया जा सकता है और जीवन को बदला जा सकता है। जयाचार्य के जीवन के साथ परिवर्तन का एक लम्बा इतिहास जुडा हुआ है। उन्होने तेरापथ धर्मसघ मे इतनी बाते बदली कि एक तरह से उसमे सौन्दर्य आ गया। परिवर्तन का यह इतिहास जयाचार्य और मार्क्स की तुलना की आधारभूमि प्रस्तुत करता है।